वापसी



आशुतोष मुखर्जी
रूपांतर: सुशील गुप्ता

दो शब्द

'वापसी' दुनियावी खुदगर्जी, लोभ, मक्कारी और महत्त्वाकांक्षाओं की तूफानी उड़ानों में इमान की आदमी की कहानी है। लालसा की बेतहाशा दौड़ में आदमी अकसर भटक जाता है और अंधेरे में गुम होने लगता है। शराब, सेक्स, शोषण, अनाचार, बेईमानी ही उसका परिचय बन जाती है और अपने रचे हुए मायावी संसार में कहीं बेहद अकेला छूट जाता है। कभी-कभी सुखद संयोग होता है, उसे अपनी भूलों का अहसास होता है, और उसकी 'वापसी' ही उसके व्यक्तित्व की सही पहचान साबित होती है।

'सत्यशुद्ध अधिकारी' अमीर.. अमीर और अमीर बनने की अंधी जिद में इस कदर डूब जाता है कि उसे उसकी भी आवाज़ सुनायी नहीं देती, जो उसे जिन्दगी की सबसे बड़ी ज़रूरत लगी थी और जिसे हासिल करने के लिए उसने अपनी इंसानियत को भी दांव पर लगा दिया था। लेकिन क्या वह सचमुच कसूरवार था?

कौन थी वह आग की लकीर, जिसने उसके सीधे, सच्चे, मासूम मन में दौलत की अनबुझ प्यास जगा दी और वह वहशी बन बैठा? महत्त्वाकांक्षा और प्रतिशोध की आग में जलती हुई 'दीपिका' ने सत्यशुद्ध अधिकारी के सामने एक छोटी-सी शर्त रखी थी, 'जो मेरे लिए दौलत का ऐसा पहाड़ खड़ा कर दे कि मेरे भाई तक बौने साबित हों—मैं जिन्दगीभर के लिए उसकी ज़रखरीद गुलाम बन जाऊंगी।'

वापसी

"...रात के कितने बजे हैं, मुझे नहीं मालूम! इस कच्चे घर की अन्य छोटी-मोटी चीजों के साथ मेरी घड़ी भी जाने किसी ताक पर पड़ी होगी। ना, अब अलग से उस पर निगाह नहीं जाती। इस वक्त, तुम्हें खत लिखने का ठीक-ठीक समय भी नहीं बता पाऊंगी, क्योंकि अगर मैं घड़ी देखने उठूं भी तो कोई फ़ायदा नहीं होगा। उस घड़ी में दो बजकर सात मिनट ही हुए होंगे। मैंने आखिरी बार उसमें चाबी कब भरी थी, अब तो यह भी याद नहीं! शायद काफी दिनों पहले भरी थी। मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि मेरी घड़ी किसी दिन दोपहर के दो बजकर सात मिनट पर रुक गयी थी या रात के वक्त थमी थी। कई दिनों यह ख़याल जरूर आया है कि स्कूल या उस दूर वाले पोस्ट-आफिस की दीवार-घड़ी से अपनी घड़ी मिला लूं लेकिन जैसे ही सुबह होती है, कुछ भी याद नहीं रहता। यहां कोई समय मिलाकर काम नहीं करता। समय ही चुपचाप चला आता है और तमाम कामों के संग हो लेता है। यहां वक्त गुस्से में आखें तरेरकर आदमी को दौड़ाता नहीं है, बल्कि विनम्र आवेदन की तरह आता-जाता है। जो लोग काम में व्यस्त हैं, उनमें भी उलझता है और जो खाली बैठे रहते हैं, उनमें भी छेड़खानी करता है। इसीलिए अगर कभी उस बन्द घड़ी की याद आयी भी, तो किसी दूसरी घड़ी से समय मिलाने, नये सिरे से दम देने या उसे फिर से चलाने की जरूरत ही महसूस नहीं हुई।

लेकिन मैं इस समय की यानी इस खास पल की बिलकुल सही मिसाल तुम्हें दे सकती हूं। मेरे मन के भीतर आठों पहर उसी खास समय का निर्देश ही गूंजता रहता है। उसका नाम है संयोग! लेकिन, कहीं तुम यह

मत सोच लेना कि मिट्टी के आले पर बन्द पड़ी उस घड़ी की तरह मेरा मन भी चलते-चलते अचानक रुक गया है। नहीं, तुम्हारी चावी वाली उस घड़ी के कांटे की तरह मेरा मन भी रात और दिन के हर पल पर अपनी उंगली रखे हुए, आगे बढ़ रहा है। मैं सोते-जागते हर पल वक्त की आहट सुना करती हूं और किसी गीत की तरह कोई खास पल मेरे कानों में गुनगुन किया करता है। संयोग की आहट !

इधर कई दिनों से मन बेहद बेचैन हो उठा है और चाहता है कि इस बदले हुए मौसम की खबर तुम तक भी पहुंच जाए। लेकिन पहुंच भी जाए तो क्या होगा ? तुम्हारे होंठों की कोरों पर झलकती हुई व्यंग्य मुसकान मैं यहीं से देख पा रही हूं। हो सकता है यह खत पढ़ते हुए भी तुम्हें खीज उठे और तुम इसे बिना पढ़े ही फाड़कर फेंक दो। खैर, तुम इस खत को यूं ही डाल भी दो, तो भी मेरा मन कहता है कि तुम्हारे धन-समृद्धि के ज्वार तले कहीं दरार पड़ने लगी है ! अभी तुम उसे देख नहीं पा रहे हो, लेकिन महसूस ज़रूर कर रहे हो। अपने निःशेप हो जाने के आतंक से तुम घबरा उठे हो और इसीलिए तुम ऐशो-आराम के नशे में सर्वथा नये आवेग, नये उल्लास से डूब जाने की कोशिश कर रहे हो। लेकिन तुम्हारा वह आवेग-उल्लास भरा चेहरा मुझसे बेहतर और कौन पहचानता है, बोलो ? एक दिन मैंने ही तुम्हें इस राह पर धकेला था ! कभी तुम्हारे निःशेप होने का अशुभ दिन आया भी, तो तुम्हें लौटा लाने की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मेरे अलावा और किसकी होगी ?

जानते हो, तुमसे अलग होने से पहले मैंने यह सहज-सी बात ही तुम्हें समझानी चाही थी। लेकिन तुमने समझा नहीं, शायद समझना चाहते नहीं थे और तुम्हारी इस नासमझी पर मैं सचमुच नाराज़ हो उठी थी। हां, वहीं से मेरा अभिमान आहत हो उठा था। अन्दर ही अन्दर ढेर सारा दर्द मुझे तोड़ गया था। तुम्हारा चेहरा देखकर मारे डर और घबराहट के मैं अपना दर्द सीने में दबाये हुए भाग आयी थी। तुम्हारे मन में ऐशो-आराम की जो आग कभी मैंने खुद जलायी थी, उस दिन तुम्हारी दया और उदारता के मुखौटे के पीछे उसका सर्वग्रासी रूप देखकर मैं बुरी तरह कांप उठी थी। उस दिन मेरे पास ऐसी कोई ताकत नहीं थी, जो तुम्हारी उस

आग को बुझा दे। मैं तुमसे सिर्फ मिन्नत कर सकती थी, लेकिन महज मिन्नतों से आग नहीं बुझती। तुम सिर्फ हँस दिए थे। मेरी बातें तुम्हें पागलपन लगी थीं। उसे तुम एक हारी हुई लड़की के आखिरी पलों का निष्फल दम्भ और अहंकार समझ बैठे थे।

लेकिन उस दिन तुमने मुझसे—तुम्हारी नजर ही में पराजित इस दीन युवती से, ठीक-ठीक क्या चाहा था, जानते हो? उस वक्त तुम्हारी नसों में, तुम्हारी आँखों की दृष्टि में अचानक जो आग भड़क उठी थी, भला तुम उसे कैसे देख पाते? गर्विष्टगी आखिर में आकर स्वार्थ के कागज पर एक आनुष्ठानिक हस्ताक्षर करने की उतावली की तरह से दरअसल तुमने अपने को और मुझे ठगने की दिशा में कदम बढ़ाया था। इसीलिए, उस दिन न तुम अपने को देख पाये, न मुझे।

हाँ, उस दिन तुम्हारी धमनियों में, तुम्हारी नसों में, तुम्हारी आँखों की पुतलियों में जो आग धधक उठी थी, वह महज अहंकार की अतिचारी आग भर थी। यह आग सिर्फ उन्हीं पलों में भड़कती है जब आदमी अपनी अच्छाइयों से नीचे गिर जाता है, भ्रष्ट हो जाता है जिस क्षण का मतलब आदमी जीवन का अर्थ खो देने को विवश हो जाता है। और अगर जीवन का सही अर्थ ही खो जाये तो दुनिया-जहान की तमाम धन-दौलत भी बिलकुल निरर्थक और बेकार साबित होती है। उस आन्तरिक खालीपन को भरने की जिद में ही आदमी व्यभिचार की अतल गहराइयों में डूब जाना चाहता है, लेकिन उसे क्षणिक विस्मृति के अलावा और कुछ नहीं मिलता।

तुमने अपनी दीपिका को बेहद अहंकार से सिर्फ उस क्षणिक विस्मृति की संगिनी बनाना चाहा था। उस दिन तुमने मुझे सिर्फ इसीलिए इजाजत दी थी कि तुम्हारे उस क्षणिक नशे के लिए भी तुम्हारा साथ दे सकूँ।

तुमने मुझसे बस इतनी ही अपेक्षा की थी। इससे अधिक न तुम देना चाहते थे और न पाना चाहते थे। जाने तुम्हें विश्वास होगा या नहीं, इस अहसास पर खुद मुझे भी बेहद अचरज है कि सब कुछ खो देने के बाद तुम्हें देने के लिए मेरा मूलधन आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया है। हाँ, मेरे पास जो कुछ भी है, उसे लेकर बाहर से कोई नाम-धाम नहीं है, लेकिन

अन्दर-ही-अन्दर कहीं परम सन्तोष है। अपनी उसी पूंजी के सहारे मैं :
दिनों तक इन्तजार करती रही और प्रतिदान में तुमसे कुछ पाने की
उम्मीद लगा बैठी। दरअसल तुम मेरे लिए अपमान का थाल सज
लाये थे। सैकड़ों लोगों की कुत्सित लोलुपता का निशाना बनी हुई
देह ने तुम्हें भी बुरी तरह अन्धा और उद्भ्रान्त कर दिया था कि तुम्
मन में भी लोभ जाग उठा और तुम अपनी एय्याशी की घिनौनी तृप्ति
लिए मेरे पैरों में कानून की जंजीर पहनाकर मुझे ज़रखरीद गुलाम ब
को आगे बढ़ आये थे।

...हां, उम्मीद है, उस रात की बात तुम भूले नहीं होगे। मुझे अ
वश में करने की ज़िद में तुम्हारा वह खूबसूरत और दिलफ़रेब मुखौ
खिसक गया था और तुम्हारे अन्दर छिपा हुआ हिंस्र और गलीज जान
अनायास ही प्रकट हो गया था। मैंने भी विरोध नहीं किया, बेहद धी
और ठंडे दिमाग से उसे भी स्वीकार किया, ताकि तुम्हें कुछ दि
सकूं। मैंने सचमुच तुम्हें यह दिखाना चाहा था कि सच्चे सुख का र
मेरे भीतर ही छिपा है और मैंने कोशिश की थी कि इस आश्वासन
आकर्षण, तुम्हारी निगाहों में सर्वाधिक अहम् हो उठे। तुम्हारी निग
में लोभ ज़रूर जगा था, लेकिन वह सुख तुम्हारे लिए अहम् नहीं बन सक
मेरे उस आचरण को तुमने मेरी अन्ध-भक्ति मान लिया। तुम्हें लगा कि
सफल और सार्थक पुरुष के आगे यह किसी अहंकारी और बद्दिम
लड़की का समर्पण भर है।

तुम्हें दोष नहीं दूंगी। इसके अलावा तुम और सोच भी क्या स
थे? असल में जिस भौतिक सामर्थ्य के अहंकार में तुम अपने को सा
समझ बैठे हो, वह पौरुष का नहीं, किसी पुरुष के चश्मा का है। तु
सिर्फ़ उसी चश्मे से अपने को और मुझे देखा-परखा। अगर पहले व
दीपिका गांगुली होती तो उस चश्मे का जादू देखकर अभिभूत हो उठ
अपने अंग-प्रत्यंग की खूबसूरती से सजा-संवारकर मोहक दीपशिखा
लहराती हुई तुमसे सुलह करने को आगे बढ़ आती। तुम्हारे अतुल वै
का पाई-पाई हिसाब अपने मन के पन्नों पर अंकित करके, तुम्हारी
की एकांत-संगिनी बनने का नाटक सफलतापूर्वक निभा ले जा

लेकिन, सुनो, वह मन का विनिमय नहीं होता, खरीद-बिक्री के सौदे की तरह देने-पाने का प्रहसन-भर होता। उस स्थिति में जैसे हम थे, उससे अधिक किसी जान-पहचान की जरूरत नहीं होती, शायद कोई अपेक्षा भी नहीं होती।

लेकिन आज वह सम्भव नहीं है। प्रभु ने मुझे इस कदर दिवालिया करके दरअसल मुझे बचा लिया। जो ज़ख्म अन्दर-ही-अन्दर सड़ने लगा था, उसका बेदर्द निर्मम भाव से ऑपरेशन करके मुझे कैसी स्वस्थ-सी जिन्दगी लौटा दी है। कभी तुम्हारे सामने बैठकर, यह सब दिखा पाने का मौका ही नहीं मिला। जानते हो, जब नदी का एक किनारा टूट-फूट जाता है, तो किसी अन्य छोर पर कोई नया किनारा बन जाता है। यहां रहते हुए मैं अपनी आंखों से रूपनारायण नदी का यह खिलवाड़ देखा करती हूं। नदी के उस पार जो ईशान-कोण है न, क्रमशः दूर सरकता जा रहा है। उस पार के गांवों की तसवीर दिनों-दिन कैसी धुंधली पड़ने लगी है। हालांकि इस पार बहुत सारे दुःख-दैन्य से गुजरते हुए भी किसी सृष्टि-मन्त्र की अस्पष्ट ध्वनि जैसे आकार लेने लगी है। यहां के तमाम लोगों की और अपने आस-पास की हर चीज को देखते हुए, मैंने अकसर यह बात महसूस की है।

लेकिन, सुनो, तुमने मेरे तोड़-फोड़ को ही किसी उत्सव की तरह बहुत बड़ा मान लिया, मेरे निर्माण की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। इसीलिए उस रात के बाद मेरे अचानक बदल जाने पर तुम्हें अचरज हुआ था। तुम मन-ही-मन हंसे होगे कि मर्दों को वश में करने की यह भी कोई नयी अदा है। अपनी तृष्णा के दलदल में मुझे खींच ले जाने की असफलता पर तुम क्षुब्ध हो उठे थे, नाराज भी हो गये। पतंगों की तरह तुम खुद ही अपने को लोभ की आग में जलाकर खाक हो जाने को बेचैन हो उठे थे। तुम्हारी तरफ से तो ब्याह के अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करके, विनिमय-शून्य उस गलीज वासना की आग को और तेज करने का दराज आमन्त्रण भी मिला था।

लेकिन, जानते हो, पतंगों को जला-जलाकर खाक करने का खेल मैं बहुत पहले ही छोड़ चुकी थी।

शायद तुम यह सोच रहे होगे कि अचानक यह खत क्यों लिखा मैंने ! तुम्हें खत इसलिए लिख रही हूं, क्योंकि आने से पहले अपना जो फ़ैसला तुम्हें सुना आयी थी, वह मेरा आखिरी फ़ैसला या आखिरी बात नहीं थी। अन्त तो उसी का होता है न, जिसकी कोई शुरुआत हुई हो ? यहां आने के बाद मुझे हर दिन, हर पल यही लगा है कि हम दोनों अभी उस राह पर चले ही नहीं, जिसे शुरुआत कहते हैं, अभी तो इतना कुछ शेष है कि उसकी परिसमाप्ति के लिए शायद एक समूचा जीवन भी काफ़ी न हो। जैसे-जैसे दिन गुजरते जा रहे हैं, उस शुरुआत की अभ्यर्थना का आभास बेहद स्पष्ट होता जा रहा है और उस शुभ शुरुआत का आयोजन मुझे इस कदर भर गया है कि उस सुख को अकेले जी पाना मुश्किल हो रहा है ! जानते हो, मेरी बड़ी मां कहा करती थीं—तपस्या का दुःख-कष्ट अकेले ही उठाना चाहिए लेकिन उसका सुख सबको बांटकर जीना चाहिए। उन्होंने ऐसा क्यों कहा था, इतने दिनों बाद आज मैं समझ गयी हूं और उसे समूचे आवेग से महसूस कर रही हूं। इसीलिए रूपनारायणपुर के पार निगाहें टिकाए हुए, मैंने अकसर तुम्हें बहुत-बहुत आवाज़ें दी हैं।

तुम एक बार यहां आकर देखो तो सही—यहां के आकाश-वाताश, दिन-रात और उजले-अंधेरे में खोने-पाने का कैसा अद्भुत समारोह चला करता है। हां जी, तुम बस एक बार आ जाओ। तुम्हें खुद ही लगेगा मिट्टी के इस कच्चे घर के ऊपर छाया हुआ आकाश कितना विशाल है। कैसा भरा-भरा है। उसकी ममता भी कितनी उजली और उदार है। उसकी बेरुखी का रौद्र-रूप भी कितना सहज और सुन्दर है।

तुम सोच रहे होगे, मैं जरूर पागल हो गयी हूं।

लेकिन यहां का सब कुछ हमेशा शुचिता और शुभ्रता में ही डूबा रहता है, यह मैं नहीं कहूंगी। तुम्हारे शहर का धुआं-धुंधलका यहां तक बाकायदा पहुंच चुका है। वहां की बहुत सारी वर्जनाएं यहां के जीवन-प्रवाह के साथ आ मिली हैं। लेकिन यहां का उन्मुक्त प्रवाह इन वर्जनाओं को भी फालतू कूड़ा-करकट की तरह अपने साथ दूर बहा ले जाता है। हां, शहर की विकृतियां यहां के इन्सानों को भीतर-बाहर एकबारगी गन्दा नहीं कर पायी हैं। उन्हें पूरी तरह काला नहीं कर

पायी हैं। तुम्हारे शहर के जिस आदमखोर दानव ने यहां सबसे भयंकर उत्पात मचा रखा है—उसका नाम है अभाव! तुम कल्पना भी नहीं कर सकते कि यहां के लोग कितने गरीब हैं। खाने-पीने की चीजों के लिए तो यहां के शरीफ लोगों की भी नीयत बेईमान हो उठती है। यह सब देखते हुए बेहद दहशत भी होती है। लेकिन इन सबके बावजूद घने स्याह बादलों की दरारों से झांकती हुई टुकड़े-भर धूप की तरह रह-रहकर जैसे कोई बिजली कौंध जाती है और तब लगता है, ये लोग गरीब जरूर हैं लेकिन तुम लोगों की तरह बिलकुल ही चुके हुए गरीब नहीं हैं।

आओ, तुम्हें पिछली रात की एक घटना सुनाऊं। मुझे यह किस्सा आज सुबह जोगेश्वर तिवारी की जुबानी मालूम हुआ।

मेरे लिए समाचार जानने के लिए अखबार-रेडियो बस, यह जोगेश्वर ही है। आज जब वह सुबह बाजार से लौटा तो आंखों में अजीब-सी हैरानी थी। उसने जो खबर दी, उसका ऊपरी रंग-रोगन पोंछकर भी जो कहानी बनती है, उसका अपना रंग इतना पक्का है कि उसे छुड़ा पाना आसान नहीं है। यहां से करीब तीन मील दूर, चावल के किसी बड़े गोदाम से, दो बोरी चावल चोरी चले गये। जोगेश्वर की राय में यह सरासर डकैती का मामला है। पांच-छह डाकुओं ने मिलकर दो-दो मुस्टंडे दरबानों का हाथ-पांव और मुंह बांध दिया और सामने के सैम्पल घर में दो बोरी चावल पार कर दिया। वहीं चावलों का बंटवारा करके, सब अपना-अपना हिस्सा अपने कन्धों पर लादकर खिसक गये। उनमें से एक डाकू शायद इसी रूपनारायणपुर से होकर अपने घर की तरफ जा रहा था। अपने हिस्से का चावल कन्धे पर उठाए, अचानक वह एक टूटे-फूटे मकान के सामने ठिठक गया। इतनी रात गये कुछ बच्चों की करुन-रुलाई और औरत-मर्द की मिली-जुली चीख-पुकार। वह डाकू थोड़ी देर चुपचाप खड़ा रहा, लेकिन जैसे ही दुबारा चलने को हुआ कि अचानक रुक जाना पड़ा। चार नन्हे-नन्हे बच्चे अपनी जान बचाने की खातिर उस खंडहर से बाहर निकल आये। बच्चे बुरी तरह भयभीत थे और कानों कच्ची लेकिन दबी आवाजों में बिलबिलाकर रो रहे थे। उनके पीछे-पीछे एक हत्यारा-सा आदमी, हाथ में पेड़ की एक सूखी डाल लिये हुए बाहर

आधा घंटे में ही ऐसा लगने लगा मानो वहां कोई जश्न मनाया जा रहा हो। उस टूटी-फूटी झोंपडी के बाहर, दरवाजे पर ही ईंटें लगा दी गयी और पेड की सूखी लकडियां जलाकर मिट्टी की हंडिया चढ़ायी गयी। भात उबलने लगा। रात कितनी बीत चुकी, किसी को होश नहीं था। भूख से कुलबुलाते बच्चों के चेहरे पर हंसी फूट आयी। बच्चे उस डाकू को घेरकर बैठ गए और कोई हैरत अंगेज कहानी सुनने में खो गये। डाकू अपनी धुन में मगन उन्हें मिठाइयों के देश की कहानी सुना रहा था, जिस देश की ईंट-मिट्टी, घर-बार सब कुछ सन्देश के ही बने हुए थे, जहां आदमी अपनी मर्जी-मुताबिक कहीं से भी सन्देश खरोंचकर खा सकता था।

बच्चे अचरज से मुंह बाये उसकी कहानी में डूबे हुए थे। चावल उबलते हुए कौन जाने उनकी मां भी सदेश की कहानी सुनते-सुनते उसी में खो गयी थी या नहीं। बच्चों का बाप भी तमाचा खाने का शोक मनाना भूलकर, हाथ में कुप्पी लिये सामने वाले आंगन से हरी-हरी मिर्चें बटोरने में जुट गया। नमक-मिर्च डालकर गर्म-गर्म भात। खासा लाजबाब खाना होगा।

लेकिन उस डाकू ने यह सोचा भी नहीं था कि तीन मील दूर निकल आने पर भी, उसके सिर पर मुसीबत की तलवार ज्यों-की-त्यों लटक रही है। ये चावल कहां से और कैसे लाया गया, उस माहौल में आकर, शायद वह बिलकुल ही भूल गया था। चावल लेकर नौ-दो-ग्यारह होने के फौरन बाद, वहां कैसा हंगामा मच गया था, उसे पता ही नहीं चला। बड़े-बड़े महाजनों का लोक-बल और सामर्थ्य भी किसी से कम नहीं था। उन लोगों ने रातों-रात दो लठैत सिपाहियों का इन्तजाम कर डाला और नदी के किनारे-किनारे चोरों की तलाश में निकल पड़े। घने अंधेरों में आग काफी दूर से ही दिखायी दे जाती है। इतनी रात गये, झोंपड़ी के बाहर आग क्यों धधक रही है, इसका पता लगाना स्वाभाविक था। वे लोग जितने करीब आते गये उनका शक और गहरा होता गया। वे पांव दबाकर खंडहर के पिछवाड़े से अंदर घुस आये और अचानक उनके सामने आ खड़े हुए। उनमें एक सिपाही ने डाकू को देखते ही पहचान लिया।

बाप

उसके वाद ?

उसके वाद और क्या होना था ? उन लोगों ने मारते-मारते उसकी हड्डी-पसली एक कर डाली। उसके साथ पति-पत्नी के अलावा, भूख से विलविलाते हुए नन्हे-नन्हे वच्चे तक विना किसी आह्-कराह के खामोश पिटते रहे। सिपाहियों ने जूतों की ठोकर से उनके भात की हंड़िया उलट दी। अचानक एक चीख सुनायी पड़ी, खून से लथपथ डाकू की चीख।

वह हाथ जोड़कर मिन्नतें करने लगा, "दुहाई है, तुम लोग मुझे मार डालो, लेकिन भात मत खराव करो। उन नन्हे-नन्हे वच्चों का पेट भर जाने दो।"

घटना की खबर मिलते ही जोगेश्वर उस खंडहर को देखने गया था। डाकू के साथ घर के मालिक को भी हथकड़ी लगाकर खींचते हुए ले गये। आज भी उन्हें रिहाई नहीं मिली। जोगेश्वर यह कहानी उसकी वहू की जुवानी सुनकर आया है।

खैर, यहां घने वादलों की दरारों से झांकने वाली एक टुकड़ा रोशनी की वात कह रही थी न मैं ? मेरा मतलव तुम समझ गये न ?

...आज शाम-भर काफ़ी जोर-शोर से वारिश होती रही। भरी दोपहर को मानो आसमान पर किसी ने काले रंग की दरी विछा दी हो। मुसीवत के दिन इतनी जल्दी कट जायेंगे, मैंने सोचा भी नहीं था। लेकिन देखो न, आखिर कट ही गये। जिन्दगी और इन प्राकृतिक मुसीवतों में कोई खास फर्क है, इसे स्वीकार करने का कतई मन नहीं होता। वाहर झींगुरों की झंकार ! लगता है इस नीरस पुकार में भी कहीं किसी छन्द-लय की तलाश छिपी है। जुगनुओं का झुंड आंखमिचौनी खेल रहा है। सामने वाले वाग से हवा की हर लहर के साथ फूलों की खुशवुओं का जैसे रेला-सा उमड़ आता है। मैं अपने इस अंधेरे कमरे में, खिड़की के विलकुल पास अपने तख्त पर वैठी हुई हूं और दूर की रोशनी में झिलमिलाते हुए रूपनारायणपुर को भरपूर निगाहों से निहार रही थी।

लेकिन झींगुरों और जुगनुओं के झुंड, वगीचे से आ रही फूलों की अस्थिर फुसफुसाहटें मुझे अस्थिर किये दे रही हैं। ये आवाजें मेरे मन के वंद दरवाजे से वार-वार अपना सिर टकरा रही हैं। कान उधर ही लगे

हूँ। हां, मैंने द्वार भी खोल दिया है !

उसके बाद ?

उसके बाद मिट्टी का दीया जलाकर तुम्हें लिखने बैठी हूं। मेरे मन के बंद दरवाजे के इस ओर जो संकल्प और घोषणा मुखर होने को बेचैन हो उठी है, झींगुर-जुगनुओं का झुंड, फूलों की खुशबू उन्हें छेड़-छेड़कर उजागर कर रही है।

...सुनो, मैं आज भी तुम्हारी ही प्रतीक्षा में पलकें बिछाये बैठी हूं। हर पल तुम्हारी ही प्रतीक्षा में रहूंगी—यह मेरा संकल्प है ! और तुम जरूर आओगे, तुम्हें आना ही होगा, यह मेरी घोषणा है। एजी, हमने एक-दूसरे को जितना जाना है, वह कोई मामूली बात तो नहीं थी। इसके लिए बहुत कुछ देना पड़ा है। मन के इस चिर-परिचित आईने में, तुम्हें अपने सामने देखकर मैं सच ही बेहद बेसब्र हो उठी हूं !

जाने क्यों मेरा मन कहता है कि उस उद्दाम भोग-विलास के बीच तुम्हारे मन की बिलकुल भीतरी तहों में, ठीक इसी प्रकार का कोई अवसाद अनजाने में ही अपना अधिकार फैलाता जा रहा है। भौतिक ऐशो-आराम में डूबे हुए तुम्हारे पुरुषत्व की आड़ में कोई निरर्थक हाहाकार अपना अमोघ जाल बिछाकर बैठ गया है। हो सकता है अभी तुम्हें इसका आभास न हुआ हो, लेकिन एक-न-एक दिन तुम महसूस करोगे। हां, मुझे मालूम है तुम्हें यह जरूर अहसास होगा। तुम्हारे बारे में अगर मैं इतना भी नहीं जान पायी, तो तुम्हें पहचानने का दावा ही सचमुच व्यर्थ है ! जिस दिन ऐसा कोई अहसास तुम्हें तंग करे, उस दिन तुम अपना सिर पीटकर सिर्फ अफसोस में न डूब जाओ या मारे अभिमान के हिम्मत न हार बैठो, इसीलिए मैं तुम्हें अपने इस एकान्त-प्रतीक्षा की खबर भेज रही हूं कि रूपनारायण नदी के किनारे मैं आज भी तुम्हारे लिए प्रतीक्षारत हूं !

नहीं, डरो मत ! इस कच्ची झोंपड़ी में तुम्हें जीतने के इरादे से किसी योग-साधना का आसन बिछाकर नहीं बैठी हूं। यह भी एक प्रकार से भोग का ही आसन है। हां, आकार-प्रकार में थोड़ा अंतर जरूर है !

कृष्ण-पक्ष का हंसिया-सा चांद मेघों की दीवार के सहारे हौले से

उचक-उचककर नीचे धरती की शोभा निरख रहा है। रूपनारायण नदी के इस छोर से उस छोर तक रोशनी की एक महीन धारी-सी खींच गयी है। दूर से ऐसा लग रहा है मानो रोशनी का सेतु जगमगा रहा हो। मेरा मन कहता है कभी तुम भी इसी तरह रोशनी के किसी सेतु की राह मुझ तक लौट आओगे। नदी का सुदूर पुल! दिन-भर में अनगिनत गाड़ियां उस पर से होकर गुज़रती हैं। लेकिन पुल दूर होने से क्या हुआ—यहां नाव से नदी पार करने का सिलसिला अभी भी नहीं टूटा है। हां, यह सोचते हुए मुझे बहुत—बहुत अच्छा लग रहा है कि कभी तुम भी सामने बिछी नदी पार करके मुझ तक लौट आओगे। जब भी पलकें मूंदती हूं वह दृश्य मेरे सामने साकार हो उठता है ! हां जी, मैं साफ़-साफ़ देख रही हूं, मैं नदी के इस पार खड़ी हूं, और तुम छोटी सी नाव पर सवार होकर मुझ तक लौट रहे हो।...

जिस हंसी को देखने के लिए मैं एक-एक दिन गिन रही हूं तुम्हारे चेहरे पर वही हंसी और साथ ही अवश बेसब्री भी झलक आयी है। तुम सोच रहे हो यह नदी इतनी लम्बी क्यों है? यह नदी आखिर खत्म क्यों नहीं होती ?

अशुभ वासना सबसे पहले अपने ही मन को जलाती है और उसके बाद समूची दुनिया को अपने शिकंजे में कस लेना चाहती है। कुछ-कुछ अनजाने में और बहुत-कुछ जान-बूझकर अगर किसी ने किसी व्यक्ति की वासना को अशांत-अतल गहराइयों में धकेल दिया हो, तो वह मैं हूं। मैं दीपिका गांगुली !

असल में आज का समूचा युग ही जिस रोग से बुरी तरह बीमार हं गया है, उसका नाम है दाह! युग-दाह ! औरत-मर्द, छोटे-बड़े, ऊंच-नीच—कोई भी इस रोग से मुक्त नहीं है। दाह-रोग ने इस युग की सत्ता सैकड़ों सूराख कर डाले हैं। यह मर्ज़ कई-कई मुखौटों में, समूचे युग प अपने दांत गड़ाये हुए है। हंसी और आंसुओं का मुखौटा ! राग-विरा अनुराग का मुखौटा। ये मुखौटे उदारता के नाम पर महज़ हिंसा की छ

पैनी करते है, सुन्दरता का शान्ति-जल छिड़ककर कुत्सित लोभ और व्यभिचार में डूबे हुए हैं, ये लोग परम-मित्र बनकर दुश्मन की तरह कलेजा नोच लेते है, शिक्षा के नाम पर अंधेरे में शव-साधना करते है, दुनियादारी का परचम लहराते हुए सर्वनाश का मेल मेल रहे हैं। सिसकियों के समुद्र-हाहाकार को कालोच्छ्वास के निर्दय अट्टहास ने ढक लिया है।

युग के इसी भयंकर रोग-दाह से भला मैं, अत्यंत मामूली-सी लड़की—दीपिका गांगुली भी आखिर कैसे बच सकती थी? मैं भी नहीं बच सकी। शायद मैं बचना चाहती भी नहीं थी।

शायद मैं बे-हद—बेहद साधारण थी, तभी असाधारण बनना चाहा था। हां, एक साधारण-सी लड़की पर असाधारण बनने का असम्य नशा सवार हो गया था और उस नशे के बलि-कुण्ड के सामने जिस व्यक्ति ने अदम्य उत्साह से अपनी गर्दन झुका दी थी—वह था शुद्ध अधिकारी!

...शुद्ध सत्व अधिकारी! अपने नाम में से 'सत्व' वर्जित कर देने की कीर्ति के लिए वह खुद जिम्मेदार था। उसका खयाल था, उसने अपने नाम को काट-छांटकर सिर्फ छोटा ही नहीं किया, बल्कि उसकी छटा में भी चार चांद लगाने में सफल हुआ है। खुद उसी ने एक दिन बेहद बुद्धू-बुद्धू-सा चेहरा बनाकर, अपनी बुद्धिमानी झाड़ते हुए बताया था कि छोटे नाम में चाहे कोई अर्थ हो या न हो, लेकिन बड़े नाम के उच्चारण में जिस अनर्थ की सम्भावना थी, वह मिट गयी।

यूं वह इतना मामूली और साधारण इन्सान था कि मेरी निगाह में जैसे उसकी कोई अहमियत ही नहीं थी। खैर, उन दिनों मेरी निगाह में किसी भी इन्सान की कोई खास अहमियत नहीं थी। लेकिन उस ऊपर वाले ने उस आदमी को सचमुच ही असामान्य और असाधारण बनने लायक कुछ गुण दिये थे। काश, मेरी आंखें उन्हें पहले देख पातीं तो तकदीर का फैसला शायद कुछ और होता। लेकिन अब वह सम्भव नहीं है। कभी मैंने खुद ही अपनी आंखों पर असामान्य और असाधारणता की पट्टी बांध ली थी और उन पट्टी-बंधी आंखों को अपने अलावा और कोई भी इन्सान बड़ा नजर नहीं आता था।

...शुद्ध अधिकारी। नहीं, मैं नये जमाने की पढ़ी-लिखी लड़की हूं। ऊंची जाति या रंग-रूप का अभिमान लेकर दिमाग खराब करूं, मेरा खयाल है, ऐसी अनुदार मैं नहीं हूं। लेकिन मेरे मन में भट्टाचार्य या अधिकारी किस्म की पदवी के बारे में, शायद कोई संस्कारगत उपेक्षा भर गयी थी। इन उपाधियों के संदर्भ में पूजा-पाठ के बाद दक्षिणा की थैली में चावल-केले बांध-छांटकर चलने वाले किसी पंडित-पुरोहित की तसवीर उभरती है। इससे तो गैर-ब्राह्मण यानी घोष, बोस दत्त या मित्र के पद ही अधिक सम्मानीय लगते थे।

सुना है पहले विरोध और बाद में प्रेम—यही प्रणय के इतिहास की आदिकथा है, इस कथन की सच्चाई करने वाला ऐसा कोई महान् सबल पुरुष मेरी ज़िन्दगी में कदम रखेगा—अपनी तेईस साल की उम्र तक; ऐसी किसी सम्भावना की छाया, अपने मन के ओने-कोने में भी नज़र नहीं आयी थी। उन दिनों मेरी निगाह में सबल पुरुष सिर्फ़ एक ही व्यक्ति था—बड़ी मां की बहन का लड़का—सुबल 'दा! अपनी चौदह साल की उम्र से ही मैं उसे अपनी कोठी में देखती आ रही थी। मुझसे वह करीब आठ-नौ साल बड़ा होगा। तीन-तीन बार लगातार कोशिशों के बाद, किसी तरह बी० ए० पास करके, अचानक अपनी मौसी की शरण में चला आया। उसने यहां आते ही घोषणा की, अब वह अपने बाप का मुंह भी नहीं देखेगा और उनके घर कभी भी कदम नहीं रखेगा।

मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम, कि सुबल 'दा और उनके पिता में किस बात को लेकर मनोमालिन्य हुआ था। सुना था उसके पिता अपनी दूसरी बीवी के गुलाम थे और सुबल 'दा औरत को नहीं सुहाये, इसीलिए पिता की आंखों में भी किरकने लगे। हो सकता है कि इसी तरह का कोई हादसा हुआ हो।

इस घर में हमेशा के लिए जम जाने से पहले भी सुबल 'दा अकसर ही यहां आया-जाया करते थे। मौसी का लाड़-प्यार और खाने-पीने की दराज व्यवस्था—ये दोनों बातें सुबल 'दा को अति पसंद थीं।

वह अकसर कहा करते थे—"मौसी, अगर मेरा वश चलता न, तो मैं तुम्हें हिन्दुस्तान की प्रधानमंत्री बना देता। तुम्हारा अनुशासन जितना

सख्त है, मन उतना ही कोमल है और यहां स्वभाव के इस नरम-गरम के अभाव की वजह से ही देश रसातल में जा रहा है।"

होश संभालने के पहले से ही मैं नाड जी को बड़ी मां कहकर पुकारने लगी थी। सुबल 'दा की मौसी यानी मेरी बड़ी-मां बेहद गंभीर किस्म की महिला थीं। समूचे घर में ऐसा कोई प्राणी नहीं था जो उनसे डरता न हो या उनकी इज्जत न करता हो।

सुबल 'दा की बातों पर बड़ी मां भी हंसकर जवाब देतीं थीं, 'अगर मैं प्रधानमंत्री होती न, तो सबसे पहले तुझे ही दुरुस्त करती।"

सुबल 'दा चेहरे पर भोलापन लाते हुए फौरन विरोध करते, 'क्यों, मुझे दुरुस्त करने में अब भी कोई कसर रह गयी है ?"

जिस दिन इस घर में सुबल 'दा के रहने-सहने का स्थायी इंतजाम हो गया, मंझले और छोटे भइया की खुशी का ठिकाना न रहा। मंझले भइया और छोटे भइया बड़ी-मां के सुपुत्र थे—सुदीप और प्रदीप। जिन दिनों सुबल' दा इस घर में आये थे, मेरे डैडी कोरोनरी-अटैक के पहले धक्के से थोड़ा-बहुत संभल चुके थे। बड़ी मां के कड़े अनुशासन में वह उनका कम्प्लीट-रैस्ट यानी पूर्णत विश्राम-काल चल रहा था। कारोबार की देख-रेख मंझले भइया और सुदीप के ही जिम्मे थी। उसी साल छोटे भइया सुदीप ने सुबल 'दा के साथ बी० ए० पास किया था और खानदानी कारोबार में नाक गलाना शुरू कर दिया था। ऐसे में सुबल 'दा के आ जाने से डैडी भी थोड़ा निश्चिन्त हो आये। मैंने खुद उन्हें बड़ी मां से कहते हुए सुना, "अच्छा ही हुआ, उसके जैसा चालाक-चतुर लड़का अगर काम-काज में दिलचस्पी लेने लगे तो सुदीप-प्रदीप को आराम हो जायेगा। उसे भी उन्हीं के संग लगा रहने दो।"

डैडी की बात पर बड़ी मां ने अपनी कोई राय नहीं दी। अपनी तरफ से कुछ कहना जैसे उनके स्वभाव में ही नहीं था। उन दिनों मैं काफी छोटी थी, स्कूल में पढ़ती थी। लेकिन मैंने गौर किया था उस दिन डैडी की बातों का साग्रह समर्थन करने के बजाय वे थोड़ी चिन्तित हो उठी थीं। वह पल-भर को जैसे किसी गहरे सोच में पड़ गयी थीं, फिर उन्होंने डैडी से कहा था, "देख लो! जैसा ठीक समझो, करो। [illegible] मां का लड़का।

...शुद्ध अधिकारी। नहीं, मैं नये जमाने की पढ़ी-लिखी लड़की हूं। ऊंची जाति या रंग-रूप का अभिमान लेकर दिमाग खराब करूं, मेरा खयाल है, ऐसी अनुदार मैं नहीं हूं। लेकिन मेरे मन में भट्टाचार्य या अधिकारी किस्म की पदवी के बारे में, शायद कोई संस्कारगत उपेक्षा भर गयी थी। इन उपाधियों के संदर्भ में पूजा-पाठ के बाद दक्षिणा की थैली में चावल-केले बांध-छांटकर चलने वाले किसी पंडित-उपरोहित की तसवीर उभरती है। इससे तो गैर-ब्राह्मण यानी घोष, बोस दत्त या मित्र के पद ही अधिक सम्मानीय लगते थे।

सुना है पहले विरोध और बाद में प्रेम—यही प्रणय के इतिहास की आदिकथा है, इस कथन की सच्चाई करने वाला ऐसा कोई महान् सबल पुरुष मेरी जिन्दगी में कदम रखेगा—अपनी तेईस साल की उम्र तक; ऐसी किसी सम्भावना की छाया, अपने मन के ओने-कोने में भी नज़र नहीं आयी थी। उन दिनों मेरी निगाह में सबल पुरुष सिर्फ़ एक ही व्यक्ति था—बड़ी मां की बहन का लड़का—सुबल 'दा ! अपनी चौदह साल की उम्र से ही मैं उसे अपनी कोठी में देखती आ रही थी। मुझसे वह करीब आठ-नौ साल बड़ा होगा। तीन-तीन बार लगातार कोशिशों के बाद, किसी तरह बी० ए० पास करके, अचानक अपनी मौसी की शरण में चला आया। उसने यहां आते ही घोषणा की, अब वह अपने बाप का मुंह भी नहीं देखेगा और उनके घर कभी भी कदम नहीं रखेगा।

मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम, कि सुबल 'दा और उनके पिता में किस बात को लेकर मनोमालिन्य हुआ था। सुना था उसके पिता अपनी दूसरी बीबी के गुलाम थे और सुबल 'दा औरत को नहीं सुहाये, इसीलिए पिता की आंखों में भी किरकने लगे। हो सकता है कि इसी तरह का कोई हादसा हुआ हो।

इस घर में हमेशा के लिए जम जाने से पहले भी सुबल 'दा अकसर ही यहां आया-जाया करते थे। मौसी का लाड़-प्यार और खाने-पीने की दराज व्यवस्था—ये दोनों बातें सुबल 'दा को अति पसंद थीं।

वह अकसर कहा करते थे—"मौसी, अगर मेरा वश चलता न, तो मैं तुम्हें हिन्दुस्तान की प्रधानमंत्री बना देता। तुम्हारा अनुशासन जितना

सख्त है, मन उतना ही कोमल है और यहां स्वभाव के इस नरम-गरम के अभाव की वजह से ही देश रसातल में जा रहा है।"

होश सभालने के पहले से ही मैं ताई जी को बडी मां कहकर पुकारने लगी थी। सुबल 'दा की मौसी यानी मेरी बडी-मा बेहद गंभीर किस्म की महिला थी। समूचे घर मे ऐसा कोई प्राणी नही था जो उनसे डरता न हो या उनकी इज्जत न करता हो।

सुबल 'दा की बातो पर बडी मा भी हंसकर जवाब देती थी, 'अगर मैं प्रधानमंत्री होती न, तो सबसे पहले तुझे ही दुरुस्त करती।"

सुबल 'दा चेहरे पर भोलापन लाते हुए फौरन विरोध करते, 'क्यों, मुझे दुरुस्त करने मे अब भी कोई कसर रह गयी है?"

जिस दिन इस घर मे सुबल 'दा के रहने-सहने का स्थायी इतजाम हो गया, मझले और छोटे भइया की खुशी का ठिकाना न रहा। मझले भइया और छोटे भइया बडी-मां के सुपुत्र थे—सुदीप और प्रदीप। जिन दिनों सुबल' दा इस घर मे आये थे, मेरे डैडी कोरोनरी-अटैक के पहले धक्के से थोडा-बहुत सभल चुके थे। बडी मां के कडे अनुशासन मे वह उनका कम्प्लीट-रेस्ट यानी पूर्णत विश्राम-काल चल रहा था। कारोबार की देख-रेख मझले भइया और सुदीप के ही जिम्मे थी। उसी साल छोटे भइया सुदीप ने सुबल 'दा के साथ बी० ए० पास किया था और खानदानी कारोबार मे नाक गलाना शुरू कर दिया था। ऐसे मे सुबल 'दा के आ जाने से डैडी भी थोडा निश्चिन्त हो आये। मैंने खुद उन्हे बडी मा से कहते हुए सुना, "अच्छा ही हुआ, उसके जैसा चालाक-चतुर लडका अगर काम-काज मे दिलचस्पी लेने लगे तो सुदीप-प्रदीप को आराम हो जायेगा। उसे भी उन्ही के सग लगा रहने दो।"

डैडी की बात पर बडी मा ने अपनी कोई राय नही दी। अपनी तरफ से कुछ कहना जैसे उनके स्वभाव मे ही नही था। उन दिनो मै काफी छोटी थी, स्कूल मे पढती थी। लेकिन मैंने गौर किया था उस दिन डैडी की बातों का साग्रह समर्थन करने के बजाय वे थोडी चिन्तित हो उठी थी। वह पल-भर को जैसे किसी गहरे सोच मे पड गयी थीं, फिर उन्होंने डैडी से कहा था, "देख लो! जैसा ठीक समझो, करो। बिन मा का लड़का।

बाप से भी बनाकर नहीं रख पाया ! अब वह जायेगा भी कहां ?"

सुबल 'दा के प्रति मेरी हमदर्दी का सबसे बड़ा कारण शायद यही था कि उनकी मां नहीं थी। हालांकि मैं अपनी मां को छुटपन में ही खो बैठी थी, पर उनका अभाव कभी नहीं अखरा। बड़ी मां ने मुझे वह अभाव कभी महसूस भी नहीं होने दिया। लेकिन खैर, यह बात तो सच थी कि मेरी भी मां नहीं थी। वैसे अगर देखा जाये तो बेचारे सुबल 'दा के तो डैडी भी नहीं थे। घर में सौतेली मां लाकर जो इंसान अपने पहले बेटे को जहर बुझी आंखों से देखे उसे क्या पिता कहा जा सकता है ? मेरे डैडी भी काफ़ी छोटी उम्र में अपनी मां को खो बैठे थे। लेकिन अगर मेरी परवरिश बड़ी मां के बजाय किसी और के हाथों हुई होती, मुझे तो इस खयाल-भर से डैडी पर गुस्सा आने लगता है।

खैर, डैडी की भविष्यवाणी किस हद तक सफल हुई थी, यह वे अपनी जिन्दगी में नहीं देख पाये। हां, हम लोगों ने ज़रूर देखा। लेकिन यह सब तो बहुत बाद का प्रसंग है। असल बात यह थी कि जिस दिन सुबल 'दा इस घर के स्थायी सदस्य बन गये, मैं, मंझले और छोटे भइया बेहद खुश हुए। खैर, कई-कई बार फेल मारने के बाद सुबल' दा छोटे भइया के क्लास-फ्रेंड बन गये, लेकिन उम्र में वे मंझले भइया से तीन महीने और छोटे भइया से पूरे तीन साल बड़े थे। लेकिन उनके मन की उम्र छोटे-बड़े—सबके लिए एक-जैसी थी। हम तीनों के सन्दर्भ में वे सुबल 'दा नहीं, सुबल-सखा बन गये थे।

वैसे मंझले भइया और छोटे भइया अकसर मुझे ताना देते थे कि इस घर में जितना लाड़-प्यार और लिफ़्ट मुझे मिली है, उतनी और किसी को नहीं। उनकी बात शायद झूठ भी नहीं थी। मेरे संदर्भ में बड़ी मां का कड़ा अनुशासन भी सबकी निगाहों में प्रश्रय बन गया था। बचपन में मां को खो देने के बाद मैं बड़ी मां को ही अपनी मां समझने लगी थी। लेकिन उनके इतने करीब होने का एकमात्र यही कारण नहीं था।

बड़ी मां को कुल मिलाकर पांच बच्चे थे। उनके सबसे बड़े बेटे—संदीप को यानी अपने बड़े भइया को मैंने कभी नहीं देखा। वह सिर्फ़ मुझसे ही नहीं, मंझले और छोटे भइया से भी काफ़ी बड़े थे। मेरे जन्म के करीब

चार साल पहले, उनकी मर्मान्तिक मौत, इस परिवार के इतिहास में कम-से-कम हमेशा के लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित रह जाना स्वाभाविक था। खैर, यह प्रसंग मैं बाद में बताऊंगी। बड़े भइया के जन्म के कुछेक साल बाद ही बड़ी मां की गोद दो-दो बेटियों से भर गयी थी। लेकिन वे दोनों आठ-दस साल की होते-न-होते, बस, एक दिन के हेर-फेर में चल बसीं। उन्हें अचानक कहीं से पैसा हाथ लग गया और दोनों ने रास्ते में जाने क्या खा लिया कि फूड-पॉइज़निंग की शिकार हो गयीं। एक बेटी ने अगले दिन दोपहर को दम तोड़ दिया और दूसरी उसके अगले दिन चल बसी। हममें से कोई कहीं बाहर से खा-पीकर आया है, यह सुनते ही बड़ी मां आज भी त्रस्त हो उठती थीं। वैसे हम लोग हमेशा ही बाहर से कुछ-न-कुछ खा-पीकर आया करते थे। हालांकि हमेशा अच्छी-अच्छी जगहों में ही खाते थे, लेकिन बड़ी मां से हमेशा छिपा जाते थे। वैसे अक्सर ही हमारी चोरी पकड़ी जाती थी। घर में हमारी खुराक देखकर बड़ी मां झट पकड़ लेती थीं और उसके बाद ढेर सारी डांट।

जब दोनों दीदी मरी थीं, उस समय बड़े भइया ज़िन्दा थे। अतः बड़ी मां को बहुत साध थी उनकी एक बेटी भी हो।

बड़ी मां ने खुद अपने मुंह से मुझे बताया था, "सुदीप के बाद जब प्रदीप होने को था तो मैं दिन-रात मन-ही-मन मनाया करती थी कि मुझे बेटी ही हो।"

मैंने भी सिरचढ़ी बेटी की तरह इठलाकर कहा था, "तुम्हारी बेटी होती तो वह मेरे लाड़-प्यार में भी हिस्सा बंटाती। अच्छा ही हुआ, जो बेटी के बदले छोटे भइया चले आये।"

मेरी बातों पर बड़ी मां भी हंस पड़ी, "हां, भला ही हुआ! तुझे जो आना था न, इसी से लड़की नहीं हुई।"

मेरा खयाल है, असमय में अपनी मां को खो देने के अलावा मैंने बड़ी मां की बेटी का अभाव भी भर दिया था, इसीलिए मैं उनकी आंखों की मणि बन बैठी थी। वैसे सुबल 'दा या मझले या छोटे भइया जब बड़ी मां के लाड़-प्यार की बात को लेकर मुझे छेड़ते थे, वे निश्चित रूप से अतिशयोक्ति में बात करते थे। मुझे उनका चाहे जितना लाड़-प्यार

मिलता रहा हो, लेकिन मैं उनसे थोड़ा-वहुत डरती भी थी। घरवालों की तरह मेरे लिए भी उनकी हर इच्छा मानो आदेश था।

दो साल वाद जव दूसरा अटैक आया तो डैडी को अपने साथ ही लेकर गया। उस समय मेरी उम्र कुल सोलह साल थी। भगवान कभी मुझ पर इतना निर्मम होगा कि मेरे डैडी को भी छीन लेगा, इसका मुझे पहले अटैक के वाद भी विश्वास नहीं आया था। जिस समय दूसरा अटैक आया, मैं स्कूल फ़ाइनल के इम्तहान की तैयारी कर रही थी। अचानक जव डैडी की तवीयत खराव हुई तो पढ़ाई-लिखायी ताख पर रखकर, मैंने कई दिनों तक वड़ी मां के पूजा-घर में जाकर ठाकुरजी के सामने जाने कितनी प्रार्थनाएं की थीं। डैडी जव वेहोश हो गये थे, उस समय भी मैं भगवान के आगे सिर झुकाये वैठी रही और मन-ही-मन यह आस लगाये वैठी रही कि भगवान मेरे आंसू जरूर देख रहे हैं। शायद उसे मुझ पर रहम आ जाये।

लेकिन हुआ वही, जो पूर्व निश्चित था। मैं हिलक-हिलककर रोती रही। वड़ी मां चीखी-चिल्लायी नहीं थीं, लेकिन उनकी आंखों के अनवरत आंसू मेरी गरदन, मेरी पीठ भिगोते रहे और वे वार-वार मेरा सिर सहलाते हुए सिर्फ़ यही वुदवुदाती रहीं—"वे सव तेरे अपने नहीं थे, रे! दुश्मन थे, दुश्मन! तभी तो ऐसी दुश्मनी निभाकर चल दिये।"

लेकिन डैडी को दुश्मन समझने का सवाल ही नहीं था। अलवत्ता वड़ी मां के पूजा-घर की तरफ़ निगाह जाते ही मुझे जहर चढ़ जाता था। जाने क्यों मेरे दिल में यह वात घर कर गयी थी कि अगर सचमुच मेरा कोई दुश्मन है, तो वही पूजा-घर है। वड़ी मां के ही किसी काम से अगर मैं उस कमरे में कभी घुसती भी थी, तो भगवान की मूर्ति की ओर पलटकर भी नहीं देखती थी। स्कूल फ़ाइनल की परीक्षा के दिन वाहर निकलने से पहले, मैं वड़ी मां को प्रणाम करने झुकी ही थी कि उन्होंने पूछा, "पूजा-घर में प्रणाम करने नहीं गयी?"

मैंने जवाव में सिर हिला दिया और वाहर निकल गयी। उस दिन झूठ वोलकर मुझे जरा भी भय या परिताप नहीं हुआ था। क्यों होता? हद-से-हद यही होता न कि परीक्षा में फेल हो जाती। मुझे इसकी कोई परवाह नहीं थी।

...फेल होने के बजाय फ़र्स्ट डिवीजन से पास हुई। ठीक यही जिद निभाते हुए मैंने आई० ए० पास किया, बी० ए० और एम० ए० में भी निकल गयी। हर बार घर में जश्न मनाया गया। बडी मा मेरे हाथ पर ठाकुरजी का प्रसाद रख देती और मैं चुपचाप उसे बाहर फेंक देती। परीक्षा के बाद मेरा आत्म-विश्वास और बढ़ गया। हां, अगर सचमुच मेरा किसी से विरोध था तो वह बडी मा के पूजा-घर के उस निर्गुणातीत भाग्यविधाता के साथ था। आई० ए० पढ़ते हुए और बी० ए० के शुरू के दिनों में बडी मा जब अगाध भक्तिभाव से उमडकर ठाकुरजी के आगे साष्टांग प्रणाम करती, तब उनके पीछे खड़ी होकर मैंने जाने कितनी बार उनके ठाकुरजी की तरफ जलती हुई निगाहों से घूरते हुए जीभ दिखाकर मुंह चिढ़ाया है। यह किस्सा तो बडी मा को तब मालूम हुआ, जब मैं एम० ए० में पढ़ रही थी। उन दिनों मेरे मन में इंसान नामक जीव के प्रति तो और भी कम इज्ज़त थी। किसी-किसी दिन मेरे नास्तिक तर्कों को सुन-सुनकर बडी मा बिलकुल पत्थर हो जाती थीं।

मौत से पहले डैडी ने मुझे भगवान जाने कैसे-कैसे और कितने सारे आशीष दिये थे, लेकिन यह निश्चित था कि उन्होंने मुझे आशीर्वाद जरूर दिया था, वरना अब तक मैं जाने किन अतल गहराइयों में डूबकर बिलकुल निश्चिह्न हो गयी होती। अपने बुद्धि-बल से जितने गहरे डूबना सम्भव था, डूब ही चुकी थी। लेकिन यह सब भी बहुत बाद के प्रसंग हैं। दरअसल डैडी के जाने का दिन मेरी जिन्दगी का सबसे अशुभ दिन था। डैडी को खोकर एक अव्यक्त क्षोभ और विकृत अविश्वास ने मुझे अन्दर तक बदल डाला था।

मैं तो शुरू से ही पुरुषों के विरुद्ध थी। लेकिन यह विरोध साहित्य और नाटकों में वर्णित तथाकथित प्रणय-प्रसंग में परिणत होने वाला नहीं था। सच तो यह था कि तेईस साल की उम्र तक मुझे सुबल 'दा के अलावा और कोई दबंग मर्द दीखा ही नहीं। जिन्हें देखा, वह बाहर से जबरदस्त दीखते हुए भी अन्दर से निरे दब्बू और कायर थे। वैसे पुरुषों के विरोध से भी मेरा काफ़ी वास्ता पड़ा, लेकिन सब-के-सब वही एक ही थैली के चट्टे-बट्टे। हुंह! कायरों का विरोध! चौदह साल की उम्र में जब मैं चोटी

झुलाती हुई, स्कूल जाया करती थी, उस वक्त भी-रास्ते के कई उठाईगीरे छोकरे पीछे से बोली-आवाज़ें कसने लगे, कोई-कोई तो निहायत भद्दे तरीके से सीटियां भी बजाते थे। लेकिन यह सब मुझे कभी बुरा नहीं लगता था, बल्कि मज़ा आता था। सीटी की आवाज़ सुनकर जाने कितनी बार मैं एकदम से घूमकर खड़ी हो जाती थी, और वे बेचारे अचकचा जाते थे। मैं हंसकर आगे बढ़ जाती थी।

उन्नीस-बीस साल की उम्र में जब कॉलिज में दाखिल हुई, तब भी वही खुराफातें! वहां कॉलिज के छोकरों के अलावा कम-उम्र प्रोफ़ेसर भी उस उत्पात में शामिल हो गये थे। बी० ए० के दिनों में छोटे भइया का एक प्रोफ़ेसर दोस्त, बिना रुपयों-पैसों के ही मुझे परीक्षा-सागर पार कराने का गुरुवर दायित्व, अपने कंधों पर लेने को तैयार हो गया। उन दिनों मेरी जो पढ़ाई हुई थी, वह मैं ही जानती हूं। क्लास में पढ़ाते हुए, वह रूमाल से लगातार अपना चेहरा रगड़ता रहता था। मैं जाने कितनी-कितनी बार बड़ी मां को यह किस्सा सुनाते हुए हंसते-हंसते लोटपोट हो जाती। मेरी बड़ी मां भी इन कम उम्र के छोकरे मास्टरों-वास्टरों को पसंद नहीं करती थीं। वह तो इतनी शक्की थीं कि शुरू-शुरू में दो-चार दिनों, चोरी-छिपे उसके पढ़ाने की कड़ी निगरानी करती रहीं।

अंत में मुझे ही छोटे भइया और सुबल 'दा के सामने ज़ुबान खोलना पड़ा, "अगर तुम लोगों ने इस प्रोफ़ेसर से मेरी जान न छुड़ायी तो देख लेना, मेरा बी० ए० पास करना नामुमकिन है। कहीं ऐसा न हो कि उसके पहले ही मुझे ब्याह करके उसका घर बसाना पड़े।"

उसके बाद ही उन प्रोफ़ेसर महोदय का मेरे घर में आना-जाना अचानक बन्द कैसे हो गया, यह मुझे नहीं मालूम। लेकिन क्लास में बहुत दिनों तक मैं उनसे आंखें नहीं मिला सकी थी। उस दफ़ा फ़ाइनल परीक्षा में उसी प्रोफ़ेसर के पर्चे में मुझे पचास में से कुल तेरह नम्बर ही मिले थे। मर्दों के विरोध की ऐसी जिन्दा मिसाल देखकर मेरा हंसी के मारे बुरा हाल हो गया।

यूनिवर्सिटी के ही ज़माने में एक और महोदय से जो टक्कर हुई थी, वह किस्सा तो और भी मज़ेदार था। उन दिनों कई कारणों से वहां के

यूनियन में काफी दलबदी चल रही थी। कितने सारे दल ! कितने सारे नाम ! *अब वह सब क्या खाक याद रहेगा !* पार्टीबाजी करते हुए एक अजीब-सी खुशी और मजा लेने लायक खुराक मिलता था, अत किसी भी पार्टी में यू ही शामिल हो जाना, मेरी खास आदत थी। एम० ए० के दिनों में मुझे काफी काबिल भी माना जाने लगा था। जिस पार्टी ने मुझसे सबसे पहले सिफारिश की, मैंने आख-कान बन्द करके, उनकी प्रशसिकाओं में अपना नाम लिखा लेने में कतई दुविधा नहीं की। इसके अलावा दो-एक पार्टियों में मुझे लेकर काफी खीचा-तानी भी हुई और मुझे केन्द्र करके दो-एक छोटी-मोटी वारदातें भी घट गयीं।

एक नाम मुझे आज भी याद है। बी० ए० में वह फर्स्ट क्लास फर्स्ट हुआ था। छात्रों और प्रोफेसरों का खयाल था, एम० ए० में भी उसी का फर्स्ट क्लास आयेगा। उसकी राह निष्कटक है। इसके अलावा वह फर्र-फर्र अंग्रेजी बोलता था, वाद-विवाद में काफी दम-खम से जोरदार भाषण-वाषण भी झाड़ता था। इन अतिरिक्त गुणों के कारण उसे लोगों का अतिरिक्त सम्मान भी प्राप्त था। लेकिन वह पढ़ाई का नुकसान करके किसी भी पार्टी में शामिल होने को राजी नहीं हुआ। किसी भी दल के आग्रह-मनुहारों पर वह कान नहीं देता था।

ऐसे गुणधर लड़के की सूरत देखकर कभी-कभी गलतफहमी भी हो जाती थी। जैसा लबा कद, वैसी ही दुबली-पतली देह ! चेहरा ऐसा सूखा हुआ मानो कभी खाना मयस्सर न हुआ हो। लेकिन मर्द में अगर सच्चे गुण मौजूद हों तो उसके चेहरे से क्या फर्क पड़ता है।

एक दिन वही गुणधर छात्र बिना किसी आमत्रण के अचानक एक पार्टी में अपना नाम लिखा बैठा। अब यह बताना फिजूल है कि वह भी उसी पार्टी में शामिल हुआ था, जिसमें मैं थी। लेकिन एक ही जगह दो-दो जनों का नेतृत्व बिलकुल नामुमकिन हो उठा। हालांकि मैं उस पार्टी की नेता नहीं थी, लेकिन वहां मेरी राय को निश्चित रूप से अधिक वजन दिया जाता था। कुछेक दिनों में ही फसाद शुरू हो गया। वह ठहरा अभिमानी पुरुष ! बेहद दर्प से मेरी पार्टी से अलग होकर अन्य पार्टी में शामिल हो गया। उसके बाद समूचे आक्रोश से प्रतियोगिता के मच पर

अवतीर्ण हुआ।

उन दिनों राजनीति, समाज-नीति, शिक्षा-नीति और छात्र-नीति वगैरह के बहाने तमाम लड़के-लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई लगभग बन्द हो चुकी थी। किसी-न-किसी बहाने कोई गोलमाल हमेशा ही लगा रहता था। उन्हीं हंगामों की पृष्ठभूमि पर हमारी बहुत-सी विषमताएं भी गहरे जड़ पकड़ने लगीं। यहां तक कि कभी-कभार पार्टी की लड़ाई में छोटा-मोटा खून-खराबा भी होने लगा था।

उन्हीं दिनों मुझे अचानक ही ज्ञात हुआ कि अनन्त चक्रवर्ती की भावी निरंकुशता और सार्थकता की राह में मैं ही एकमात्र कांटा हूं। उसने रुद्ध आवाज में अपना आवेग कंपित मन्तव्य व्यक्त किया कि इधर कई महीनों से वह किताब में ध्यानमग्न नहीं हो पा रहा है। पढ़ने की लाख कोशिशों के बावजूद वह हार गया। सारी किताबें मानो मेरी तसवीरों की एलबम बन गयीं। चाहे जो भी पन्ना खोलो, अक्षर गायब हो जाते हैं। हर पन्ने पर एक लड़की का चेहरा उभर आता है। यह सब बातें उसने खुद मुझे बतायी थीं, अतः वह लड़की भला मेरे अलावा और कौन हो सकती थी? किसी अच्छे-भले लड़के का इतना बड़ा नुकसान शायद कभी किसी लड़की ने नहीं किया होगा। अपनी बात चीत के उपसंहार में उसने आग्रह किया कि फलां दिन शाम होने से पहले ही, मैं विक्टोरिया मेमोरियल में फलां जगह मौजूद रहूं और एक परम या चरम सन्धि-पलों का आखिरी फ़ैसला भी सोचकर आऊं। किसी कमजोर और डरपोक औरत की तरह उसके आमंत्रण की उपेक्षा न करूं।

मैंने भी उपेक्षा नहीं की। ठीक समय पर वहां हाज़िर हुई। उस दिन प्रदोष की छाया में विक्टोरिया-मेमोरियल के लम्बे-चौड़े मैदान के एक निर्जनतम कोने में मैंने उस शैतान से साक्षात्कार किया। मानो इस साक्षात्कार के पलों में मैं सचमुच अभिभूत हो उठी हूं—मैं मुग्धभाव से उसके बिलकुल करीब जा बैठी। हालांकि उससे बिलकुल सटकर नहीं बैठी। यह मौका उस शैतान के बच्चे के लिए स्थगित रख दिया था।

लेकिन उस लड़के में ऐसे मौके का फ़ायदा उठाने का भी साहस नहीं था। यूनिवर्सिटी के उस उज्ज्वल-रत्न और कुशल-वक्ता ने अपनी पार्टी

का नेता होने के नाम पर गले की नसें फुलाकर जो जहर-बुझा भाषण दिया, उसका अधिकांश भाग नितान्त व्यक्तिगत था और मुझे जर्जरित करने का सिर्फ बहाना-भर था। उन प्रचारों में और चाहे जो भी रहा हो, पौरुष का लेशमात्र भी न था! मेरा नाराज होना स्वाभाविक था। लेकिन उस वक्त उसका चेहरा देखकर मुझे हंसी भी आयी और ममता भी हुई।

वह मुसकराने की कोशिश कर रहा था मानो वही लड़की हो।

उसने कहा, "तो तुम...सचमुच आ गयी?"

"क्यों, तुमने क्या उम्मीद की थी? नहीं आऊंगी?"

"नहीं...लेकिन...यानी...एक बार तो मुझे यह खयाल आया था कि तुम जरूर आओगी, लेकिन फिर लगा..."

"ऐसी मिनमिन आवाज में तुम क्या कह रहे हो, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। तुम जरा मेरे और करीब सरक आओ न!"

उसको तो मानो स्वर्ग मिल गया हो। उसकी आखों में कायर-सा लोभ झलक उठा। कन्दर्प देवता का वाण हंसी-हंसी में ही कब किसे घायल कर देता है, कौन जाने।

मैंने ही बात शुरू की, "हां, तुम मुझसे क्या कहना चाह रहे थे, फौरन कह डालो!"

"क्या कहना चाहता हूं, तुम नहीं जानती?

"शायद जानती हूं, लेकिन फिर भी, कहीं कोई गलतफहमी न रह जाये। तुम ठहरे विद्वान आदमी...। हां, तो तुम क्या चाहते हो—ब्याह या प्रेम?"

"दोनों!"

"अरे, वाह! लेकिन शुरू किससे करना चाहते हो?"

"पहलेवाला!"

थोड़ा-सा माहौल रचने के खयाल से मैं जरा देर को चुप हो रही। उसके बाद मैंने ईषत् भावावेग से भरकर अवरुद्ध लहजे में कहा, "जानते हो, अपनी सांस-सांस में प्रेम समाये हुए मैं भी बस, इसी इंतजार में थी। लेकिन ब्याह से पहले प्यार ..मुझे डर लगता है। इसीलिए तो मेरा प्यार मुट्ठी

में समेटे हुए बैठी हूं !" मैंने अपनी दाहिनी मुट्ठी उसके सामने करते हुए अपनी बात जारी रखी, "लेकिन जो इंसान डाकू की तरह यह बंधी मुट्ठी खोलकर उसे छीन सकता है, वही इस प्यार का हकदार होगा। उसे चकमा देना मुश्किल है ।"

उसकी तरफ़ मुट्ठी बढ़ाने से पहले मैंने एक बार अपने आस-पास चारों ओर देख लिया था। कौन जाने, कब, किसकी नजर पड़ जाये। लेकिन ना ! शाम का धुंधलका और गहरा हो आया था। इस एकांत में दूर से किसी की भी नजर नहीं पड़ सकती। अनन्त चक्रवर्ती ने शुरू-शुरू में इसे महज मज़ाक समझा और मेरी मुट्ठी अपनी दोनों हथेलियों में ले ली। ज़ाहिर था कि मुट्ठी खोलने के बजाय उसे हाथ पकड़ने का लोभ ही अधिक था। लेकिन-मुट्ठी अगर नहीं खोल पाया, तो इज़्ज़त चली जाती। अतः उसने धीरे-धीरे मुट्ठी खोलने की कोशिश की। अचानक उसके सिर पर जैसे खून सवार हो गया। मर्द की इज़्ज़त का सवाल था। वह खूंखार हो उठा। अचानक वह मेरे बदन से बिलकुल सट आया और दोनों हाथों से भरपूर दम लगाकर मुट्ठी खोलने की कोशिश की। उसकी उत्तेजना के साथ-साथ उसका दबा हुआ आक्रोश भी भड़क उठा। अंत में किसी नासमझ मूर्ख की तरह मुट्ठी-बन्द कलाई पर अचानक कसकर दांत गड़ा दिया। और उसी पल मैंने भी उसके गाल पर कसकर एक तमाचा ज़ड़ दिया।

मैंने कहा न, अपनी जान-पहचान में एकमात्र सुबल 'दा को ही ताकतवर मर्द समझती थी। उन्हें सिर्फ़ ताकतवर ही नहीं, ज़माने की बहती हुई हवा के अनुसार विलक्षण सजग पुरुष भी मानती थी। कभी-कभी मुझे सच ही अचरज होता था कि ऐसा तेज इंसान बी० ए० के इम्तहान में इतनी बार फेल कैसे होता रहा। एक दिन छोटे भइया ने ही बताया—अपने बाप पर गुस्सा दिखाने के लिए उसने कई साल तक किताबों को हाथ भी नहीं लगाया और परीक्षा की कॉपी में हर विषय में मौलिक थीसिस लिख डाली। उसकी कॉपी देखकर हालांकि परीक्षक की तबीयत खुश हो गयी। लेकिन नम्बर तो वह अपने घर से नहीं दे सकता था। उसके बाद जिस

साल सुवल 'दा जिद पकड गये कि उन्हे पास करना ही है, बस्स—पास हो गये।"

हा, ऐसी बातें सुवल 'दा जैसे चरित्र से सहज अपेक्षित हैं, इस बारे मे मुझे जरा भी दुविधा नही थी। भइया लोग भी उनके गुणो पर मुग्ध थे। डैडी के बाद हमारे पब्लिसिटी फ़ार्म की बागडोर मझले, छोटे भइया और सुवल'दा ने सभाल ली। लेकिन मुझे पता था, कि बिजनेस की असली ताकत जिसे लाइफ़-फ़ोर्स कहते है, सुवल 'दा थे। उनके शामिल होते ही, कुछेक वर्षो मे ही बिजनेस काफी जम गया और आमदनी का अश भी तेजी से बढने लगा। यू मैं भी बिजनेस की नस-नस मे परिचित हू, क्योकि एम० ए० पास करने के बाद मैं भी उनके बिजनेस मे शामिल हो गयी थी।

उन दिनो अनायास ही अगर मैं सुवल 'दा से प्यार कर बैठती, तो कोई विचित्र बात न होती। शायद यही स्वाभाविक भी था। लेकिन मेरे मन मे ऐसा कोई खयाल जागे, इतना वक्त ही नही मिला। पहली बात तो यह कि फ़्राक पहनने की उम्र से जिस व्यक्ति को अपने भाइयो की तरह अलग माना, जिसे इतने करीब से जाना-पहचाना, नयी उम्र तक आते-आते उनके बारे मे कोई नयी कल्पना नही जगी। दूसरी बात, इस घर मे बडी मा की हस्ती, इन सब मामलो मे कडी निगरानी रखती थी। मुझे याद है, जब मैं सोलह साल की थी, उन्ही दिनो हम लोगो के किसी रिश्तेदार ने सगोत्र मे यानी लडकी का गोत्र बदलकर ब्याह रचाया था। बाप रे! बडी मा का गुस्सा देखने लायक था। उन्हे तो अब तक उन दोनो का मुह देखने मे सख्त एतराज था। और सुवल 'दा भी सगोत्र थे—शायुली! अत कभी भूले मे उनके बारे में ऐसी कोई सुदूर सभावना की कल्पना दिमाग मे नही आयी। वैसे सुवल'दा की एक आदत से मैं बुरी तरह चिढने लगी थी। मैं एम० ए० पास कर चुकी थी लेकिन सुवल'दा मुझे निरी बच्ची ही समझते थे। वैसे भी लडकियो की बुद्धि-शुद्धि के प्रति उनके मन मे कौतुकपूर्ण उपेक्षा-भाव था।

लेकिन मैं उनका यह कौतुकी-भाव बर्दाश्त करने को कतई राजी नही थी। अत सुवल'दा की पुरुषोचित निगाहो मे अपने लिए खास योग्यता और विशिष्टता अर्जन करने की, अजब-सी जिद समा गयी थी मुझमे। हा,

में समेटे हुए बैठी हूं !" मैंने अपनी दाहिनी मुट्ठी उसके सामने करते हुए अपनी बात जारी रखी, "लेकिन जो इंसान डाकू की तरह यह बंधी मुट्ठी खोलकर उसे छीन सकता है, वही इस प्यार का हकदार होगा। उसे चकमा देना मुश्किल है ।"

उसकी तरफ़ मुट्ठी बढ़ाने से पहले मैंने एक बार अपने आस-पास चारों ओर देख लिया था। कौन जाने, कब, किसकी नज़र पड़ जाये। लेकिन ना ! शाम का धुंधलका और गहरा हो आया था। इस एकांत में दूर से किसी की भी नज़र नहीं पड़ सकती। अनन्त चक्रवर्ती ने शुरू-शुरू में इसे महज़ मजाक समझा और मेरी मुट्ठी अपनी दोनों हथेलियों में ले ली। जाहिर था कि मुट्ठी खोलने के बजाय उसे हाथ पकड़ने का लोभ ही अधिक था। लेकिन मुट्ठी अगर नहीं खोल पाया, तो इज्जत चली जाती। अतः उसने धीरे-धीरे मुट्ठी खोलने की कोशिश की। अचानक उसके सिर पर जैसे खून सवार हो गया। मर्द की इज़्ज़त का सवाल था। वह खूंखार हो उठा। अचानक वह मेरे बदन से बिलकुल सट आया और दोनों हाथों से भरपूर दम लगाकर मुट्ठी खोलने की कोशिश की। उसकी उत्तेजना के साथ-साथ उसका दबा हुआ आक्रोश भी भड़क उठा। अंत में किसी नासमझ मूर्ख की तरह मुट्ठी-बन्द कलाई पर अचानक कसकर दांत गड़ा दिया। और उसी पल मैंने भी उसके गाल पर कसकर एक तमाचा जड़ दिया।

मैंने कहा न, अपनी जान-पहचान में एकमात्र सुबल 'दा को ही ताकतवर मर्द समझती थी। उन्हें सिर्फ़ ताकतवर ही नहीं, जमाने की बहती हुई हवा के अनुसार विलक्षण सजग पुरुष भी मानती थी। कभी-कभी मुझे सच ही अचरज होता था कि ऐसा तेज इंसान बी० ए० के इम्तहान में इतनी बार फेल कैसे होता रहा। एक दिन छोटे भइया ने ही बताया—अपने बाप पर गुस्सा दिखाने के लिए उसने कई साल तक किताबों को हाथ भी नहीं लगाया और परीक्षा की कॉपी में हर विषय में मौलिक थीसिस लिख डाली। उसकी कॉपी देखकर हालांकि परीक्षक की तबीयत खुश हो गयी। लेकिन नम्बर तो वह अपने घर से नहीं दे सकता था। उसके बाद जिस

सुवल 'दा से तारीफ़ पाने का वेहतर लोभ हो आया था।

जिस विरोध की फसल में प्रेम या प्रीत नहीं, सिर्फ़ दुश्मनी उगती है—मेरे तेईस वर्ष के निष्कलंक जीवन में उसी विरोध की उंगली थामे एक और पुरुष ने कदम रखा। पहली ही मुलाकात में वह विरोध का भी नहीं, सीधे-सीधे दुश्मनी का कारण वन वैठा।... पुरुष को अपने वश में करने की चाह लिये, जव कोई औरत कभी-कभार अपने तरकस के गोपन तीरों को सजाती-संवारती या पैना करती है...ऐसे में अगर किसी अवांछित व्यक्ति की निगाहों में उसके साज-संवार या शान चढ़ाने का रहस्य अनावृत हो जाए, तो दुनिया की कोई भी औरत उसे हरगिज माफ़ नहीं कर सकती। मैंने भी उसे कभी माफ़ नहीं किया। मेरी तरफ़ से दुश्मनी की शायद यह प्रत्यक्ष घोषणा थी।

...उस दिन भरी-दोपहरी में, हमारे ही घर के भीतर, कहना चाहिए हमारे अन्तःपुर में विलकुल अप्रत्याशित भाव से एक दुर्घटना हो गयी। हां, मैं उसे दुर्घटना ही कहूंगी, क्योंकि उन पलों में अपार विस्मय के वावजूद, मैंने महसूस किया था कि अचानक ही मैं वुरी तरह दिवालिया हो गयी हूं। मेरे ही घर में मेरी आत्म-मर्यादा धूल में मिल गयी।

अपने गोपन तरकस के हथियारों पर शान चढ़ाने और उन्हें सजाने-संवारने के नाजुक क्षणों में आईने की तरफ़ निगाह डालते ही मैंने एक जोड़ी मासूम-विस्मित निगाहों को अपनी ओर डवर-डवर निहारते हुए पाया। वे निगाहें मेरे सीने में सलाखों की तरह चुभ गयीं।

पुरुष की घूरती हुई निगाहें! नुकीली नाक! आईने से झांकता हुआ किसी पुरुष का अधूरा चेहरा!...शुद्ध अधिकारी का चेहरा!

मैं रूपसी नहीं हूं!

लेकिन इसका मुझे अफ़सोस भी नहीं है; क्योंकि मेरा खयाश है, रूप महज अनुभव की वस्तु है। रूप-रसिक और रूप-अधिकारिणी—दोनों ही इसे महसूस कर सकते हैं। अगर अनुभूति में कोई कसर न हो, तो खूवसूरती

के बाजार में प्राय: सभी लडकियां बेशकीमती लगती है। यह अनुभूति जितने आवेग से मन के तारों को झनझनाएगी, वह उतना ही खूबसूरत आकार लेगी, रूप का उजाला भी उतना अधिक बिखरेगा। हो सकता है, मुझमें भी अपने रूप के प्रति कुछ इसी किस्म का अहंकार रहा हो। नहीं, मुझमें ऐसा अहंकार निश्चित रूप से था।

दरअसल मेरा रंग बिलकुल सांवला है। कम-से-कम वैसा तो बिलकुल नहीं है, जिसे गोरा कहते हैं। हां, मेक-अप के आधुनिक सरंजामों की मेहरबानी से कुछ-कुछ उजली लगने लगी थी। लेकिन मेरी सूरत-शक्ल के प्रति किन्हीं आंखों को किसी तरह की लोभनीय गलतफहमी हो सकती है, ऐसा कोई मुगालता मुझे नहीं था। सिर्फ रंग ही अगर खूबसूरती की कसौटी होता; तो मर्दों की दृष्टि में शायद किसी और तरह की प्रशंसा होती। सिर्फ नाक-नक्श का अलग-अलग विश्लेषण ही रूप की परख का मानदंड होता, तो शायद मुझे भी अपने प्रति कोई आस्था नहीं होती।

लेकिन मैंने चौदह साल की उम्र में ही वास्तविक जगत की तरफ खोज-भरी निगाहों से देखा है और लगा है रूप की परख यूं नहीं होती। इस परख का आन्तरिक रहस्य कुछ और है—जैसे गन्धहीन फूलों की कोई कद्र नहीं होती, सौष्ठव की समग्रता बिना रूप का भी कोई आदर नहीं होता।

बढ़ती हुई उम्र के साथ, मेरी धारणा और भी दृढ़ होती गयी। औरत की तमाम सौष्ठवता मेरी देह-यष्टि में विद्यमान थी। हां, कभी मुझमें भी ये तमाम खूबियां मौजूद थीं, लेकिन आज उन बातों की तरफ ध्यान देना छोड़ दिया है।

समूचे घर-भर में मैं इकलौती लड़की थी। अतः लाड-प्यार जैसी चीज मुझे बड़ी आसानी से प्राप्त हो गयी थी। डैडी तो खैर जरूरत से ज्यादा प्यार करते थे। बड़ी मां का प्यार-दुलार बाहर से सयत होते हुए भी भीतर से अबाध था। अपनी उस छोटी-उम्र में इसीलिए बचपन से हो मनमाने उछल-कूद के बावजूद कोई कड़ी निगाह डालकर मुझ पर शासन नहीं कर सकता था। जब कभी भयंकर बारिश या तपती हुई धूप में बाहर से घर पहुंची, डांट की बजाय लोगों की सस्नेह-सेवा ही मिली है। अतः इन स्वाभाविक सुख-सुविधाओं की वजह से इस देह और न

कोमलता का सहज निखार आ गया था।

जब मैं स्कूल में पढ़ती थी, हर साल खेल-कूद में इतने सारे इनाम लेती थी कि उन्हें घर लाने के लिए टैक्सी करनी पड़ती थी। उन दिनों हम लोगों के पास अपनी कार नहीं थी। लेकिन कार न होने के बावजूद मुझे पैसे का अभाव किसी दिन भी नहीं अखरा। बड़ी मां लेक में स्वीमिंग सीखने की फ़ीस हमेशा हंसते-हंसते दे देती थीं। स्कूल फ़ाइनल पास करने के बहुत दिन पहले से ही मैं लड़कियों के अलावा लड़कों के साथ भी कम्पीटीशन लगाकर तैरती थी। हालांकि मेरी भयंकर नाराज़गी और तर्कों के बावजूद परीक्षा पास करने के तुरन्त बाद ही बड़ी मां ने बेहद निर्मम भाव से मेरे तैरने का सिलसिला कट कर दिया था। इसके अलावा बचपन से मुझे बैडमिंटन खेलने का भी शौक था। कॉलेज में आकर टेनिस पकड़ा। उस उम्र में तो पैसे का कहीं कोई अभाव भी नहीं था।

भइया लोगों के विज्ञापन-संस्थान में सोत्साह जुड़ने के बाद ये तमाम शौक खत्म जरूर हो गये, लेकिन उनका सुफल बच रहा। उसे बनाये रखने के लिए मैं अपनी तरफ़ से थोड़ी-बहुत मेहनत भी करती रही। जब कभी मौका मिलता था; मैं अपने कमरे में नियमित रूप से थोड़ी-सी फ्री-हैण्ड कसरत जरूर कर लेती थी, वरना मुटिया जाने का डर जो था। फ्रॉक पहनने की उम्र से ही मैं लोगों के मुंह से यह सुनती आयी थी कि लड़की बेहद स्मार्ट है। अब तक इस स्मार्टनेस की क़द्र के बारे में भी काफ़ी जानकारी हासिल कर चुकी थी। अतः मैं बहुत-सी खूबसूरत औरतों के दीर्घोच्छ्वास का साक्षात् कारण भी बन बैठी थी।...एक व्यक्ति तो मुझे आज तक याद है...। क्षमा...! क्षमा ने मुझे आज भी माफ़ किया या नहीं, मुझे नहीं मालूम। लेकिन अब सोचती हूं तो हंसी आती है। हम लोग एक ही कॉलेज में साथ-साथ पढ़ते थे। क्षमा को अपने रूप का अतिशय गर्व था। मेरी तुलना में वह निस्सन्देह रूपसी ही थी। वही क्षमा किसी गोरे-चिट्टे लड़के से प्रेम कर बैठी। अरविन्दम् बैनर्जी! क्षमा ने खुद ही उससे मेरा परिचय कराया था। लेकिन छह महीने बाद ही अचानक मुझसे बात-चीत बन्द कर दी। उन छह महीनों में अरविन्दम् से कम-से-कम छत्तीस बार मुलाकात हो चुकी थी। लेकिन जब यह असार नजर आने लगा कि

उन मुलाकातों को बढ़ाकर छह सौ बार करने की कोशिश की जा रही है, तो उस सम्भावना को मैंने खुद ही काट दिया क्योंकि उन दिनों क्षमा से नज़रें मिलाते हुए मुझे सकोच होने लगा था।

एक दिन मैंने अरविन्दम् के मुंह पर ही सुना दिया, "अब आपके जीवन में जब क्षमा आ जाए, तभी मुलाकात होगी। इससे पहले मेरा आपसे मिलने का कोई इरादा नहीं है।"

अरविन्दम् ने कहा, "क्यों, अगर क्षमा न आये तो ?"

"तो आपकी जिन्दगी रेगिस्तान है।"

"क्यों, तुम क्या सिर्फ मरीचिका हो ?"

"मैं दीपिका हूं। मेरी आंच बहुत तेज़ होती है।"

मेरा बहुत मन हुआ था बातचीत का यह टुकड़ा उस रूपसी क्षमा को भी सुना पाती। लेकिन मैंने इस बारे में उससे कोई बात नहीं की। उन लोगों ने अपने ब्याह में मुझे बुलाया तक नहीं।

खैर...अपनी देह को अधिकाधिक सजाने-संवारने और चुस्त रखने की जरूरत की मैंने कभी अवज्ञा नहीं की। इसका परिणाम भी सुखद हुआ। खैर, उसका शुभ-फल तो आज तक मिल रहा है, जाने कब तक मिलता रहेगा।

बड़ी मां की कड़ी निगरानी में रहते हुए भी, तेईस साल की उम्र तक मेरा ब्याह क्यों नहीं हुआ, यह प्रश्न बेहद स्वाभाविक है। यूनिवर्सिटी में कदम रखते ही, बड़ी मां अपना नहाना-खाना भूलकर मेरे ब्याह की जोड़-तोड़ में व्यस्त हो गयीं। मुझे लगा, वह पागल हो गयी हैं। घरवालों के पास पैसों की ताकत थी। इसके अलावा अगर लोग मुझे देखने भी चले आए तो मुंह फेरकर वापस नहीं जा सकते, मुझे अपने पर इतना विलक्षण विश्वास था। अतः अगर कहीं सचमुच ही ब्याह हो जाय तो ?

मैं ब्याह नहीं करूंगी, मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा तो नहीं की थी। लेकिन किससे करूं, यही असली समस्या थी। इस मामले में शायद मैं अतिरिक्त सजग थी, अतः मेरे लिए यह समस्या अत्यन्त विकट हो गयी। सच तो यह था कि स्कूल से निकलते ही मैं मर्दों के इतने सारे रूप देख चुकी थी कि उन तमाम रूपों के जोड़-घटावों की प्रतिक्रिया मेरे मन में घर

कर गयी थी। इस सन्दर्भ में एक सुवल 'दा को ही व्यतिक्रम पाया था। हां, मैं उनकी अन्ध-भक्त थी। यह वात अलग थी कि मैंने अपने मन के भाव को कभी व्यक्त नहीं होने दिया, वस मन-ही-मन भक्ति करती रही। लोगों को तो बस, इतना-भर पता था कि मेरा उन पर काफ़ी रौब है।

हालांकि सुवल 'दा को जीवन-संगी के रूप में अपने मन में जगह देने का कभी खयाल नहीं आया, लेकिन यह सच है कि अगर सुवल 'दा जैसे किसी पुरुष का साथ मिला होता तो शायद मैं भोली-भाली वालिका की तरह, व्याह के पटरे पर जा वैठती। उनके अलावा मैंने और भी कितने-कितने लोगों को देखा, लेकिन ऐसा कोई नहीं मिला, जो सुवल 'दा जैसा होता।

वैसे उन दिनों मैं इन वातों को लेकर कभी परेशान भी नहीं हुई। शायद ये सब मेरे अवचेतन मन की वातें थीं। लेकिन अपने व्याह के वारे में ऐसी अथक तोड़-जोड़ देखकर किसी भावी विपत्ति की आशंका मुझे परेशान कर गयी थी। और इस दुनिया में शायद ऐसा कोई नहीं था जो इस विपत्ति से मेरी रक्षा कर पाता।

लेकिन फिर भी मैं सबसे पहले मंझले भइया और सुवल 'दा की ही शरण मे गयी। उनके सामने झल्लाकर कहा, "वड़ी मां ने यह सब क्या पागलपन शुरू किया है? तुम लोग उन्हें रोकोगे या नहीं?"

भइया से वातचीत के विषय या लहजे में कहीं कोई लगाम नहीं था और सुवल 'दा से तो कहीं कोई पर्दा ही नहीं था। यहां तक कि विक्टोरिया-मेमोरियल में यूनिवर्सिटी के उस प्रेमी-प्रवर के गाल पर तमाचा जड़ने का ड्रामा भी, वे लोग सुन चुके थे। मैं उन्हें यह किस्सा सुनाते हुए हंसी के मारे लोट-पोट हो गयी और उन लोगों का भी ठहाकों के मारे बुरा हाल था। सुवल 'दा की मन्द-मन्द मुसकान में वाह-वाह किस्म की तारीफ छिपी हुई थी। छोटे भइया ने हंसते-हंसते मेरी जख्मी कलाई पर मरहम लगाने में व्यस्त हो गए थे और माथे पर हल्की-सी चपत जड़ते हुए निगाहों में ही घुड़क दिया, "हूंऽतो तू यह सब करती फिर रही है? रुक जा, मां से कहूंगा।"

सुवल 'दा ने भी मज़ाक किया, "अरे, भई, तमाचा जड़ने का मतलब

तो यह हुआ कि उस छोकरे का दिमाग और खराब कर दिया गया। अब सारी जिन्दगी वह तमाचा उसके सीने में फड़फड़ाया करेगा। महाभारत की कथा में भी प्रेम का ऐसा निष्ठुर परिणाम नहीं दिखाई देगा।' सुबल'दा का खयाल था कि प्रेम के मामले में महाभारत ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है।

खैर, शादी-ब्याह का प्रसंग काफी गम्भीर होते हुए भी, हमारी बातचीत के आपसी लहजों में कहीं कोई संकोच नहीं था।

ब्याह के बारे में मेरी आपत्ति सुनते ही मझले भइया ने मेरी ओर खोज-भरी निगाहों से देखा, "क्यों, तेरा इरादा क्या है? कहीं कोई और चक्कर है क्या?"

उस दिन मझले भइया काफी मूड में थे। उनके मनपसन्द घर में उनके ब्याह की बात एक तरह से पक्की हो चुकी थी। स्वजाति और अमीर घराना होने की वजह से बड़ी मां को भी कोई आपत्ति नहीं थी। हां, इतना जरूर कहा कि पहले बहन का ब्याह करके, फिर अपना ब्याह करना।

इसीलिए मेरे ब्याह के मामले में मंझले भइया इतने आग्रहशील दीख रहे थे और छोटे भइया भी उखड़े-उखड़े दीख रहे थे। उनके मामले में भी बड़ी मां अपनी सहमति देंगी या नहीं, यह फैसला भी मेरे ब्याह के बाद ही सम्भव था। बात यह थी कि बड़े भइया जिस लड़की को अपने घर में लाने वाले थे, उनकी छोटी बहन ने ही मेरे छोटे भइया का दिमाग खराब कर दिया था। छोटे भइया उसकी मुहब्बत में सिर से पैर तक डूब चुके थे। अब उनके सामने समस्या यह थी कि बड़ी मां एक ही घर से दो-दो लड़कियां लेने को राजी होंगी या नहीं। आजकल दिन-रात उन्हें यही फिक्र लगी रहती थी। मुझे यह खबर सुबल 'दा की मारफत मिली थी। आजकल सुबल 'दा की उपस्थिति में इस समस्या को लेकर दोनों भाइयों में गूढ़ आलोचनाओं का बाज़ार गर्म रहता था।

उस दिन छोटे भइया ने भी मझले भइया के संशय में ईंधन देते हुए कहा, "श्योर एण्ड सर्टेन! निश्चित रूप से इसका कहीं कोई चक्कर है?" और मेरी आंखों में अन्दर तक झांकते हुए सवाल किया, "हां, तो वही

अपनी जात-बिरादरी का ही है न ? या यह मामला भी गोल-मोल है ?"

मैंने गुस्से में दोनों को जीभ दिखाते हुए नहले पर दहला जड़ा, "हुंह ! खुद तो गोलमाल-विशारद हो ही रहे हो। अब मेरे पीछे क्यों पड़े हो ?'

सुबल 'दा आरामकुर्सी पर अधलेटे मन्द-मन्द मुसकराते रहे।

मैं भगवान को चाहे मानती थी या नहीं, लेकिन उस दिन उन्हीं की मेहरबानी से बड़ी मां की सारी मेहनत पर पानी फिर गया। मेहनत यानी मेरे विवाह की चिन्ता ! उसके बाद कई दिनों तक वह बेहद उदास दीखीं। उधर कई दिनों से जो पंडित महोदय आ-जा रहे थे, वह भी दिखायी नहीं दिये। बेटे के संदर्भ में जन्मपत्री मिलाये बिना ही बड़ी मां ब्याह के लिए सहमति देने को लाचार हो गयी थीं, लेकिन बेटी के बारे में भी वही बात दोहराने की कोई वजह नहीं थी बल्कि इसके विपरीत मेरे मां-बाप नहीं थे; अतः बड़ी मां की हार्दिक इच्छा थी कि ग्रह-नक्षत्र वगैरह सारी चीजें अच्छी तरह जांच-बूझकर ही मेरे हाथ पीले करेंगी।

लेकिन अचानक कैसे क्या हो गया, यह बात हम आज तक नहीं समझ पाये। कई दिनों बाद बड़ी मां ने मंझले भइया को बुलाकर अपना फ़ैसला सुनाते हुए कहा कि वह कोई शुभ दिन देखकर अपना ब्याह कर ले, दीपू का ब्याह अभी नहीं होगा। उनकी बातें सुनकर निश्चित होने के बजाय मैं खुद अचकचा गयी।

खैर, मंझले भइया ने बड़ी मां से मेरा ब्याह स्थगित होने का कारण पता लगा लिया और हम लोगों के आगे सारी पोल खोल दी। मेरा ब्याह इसलिए टल गया था कि पचीस साल के पहले अगर यह शुभ-कार्य संपन्न किया गया तो मेरा वैधव्य-योग काटना नामुमकिन होगा। बड़ी मां से मेरी जन्मपत्री लेकर, पंडितजी किसी बड़े पंडित के यहां भी गये थे। मेरी जन्मपत्री पढ़कर बड़े पंडित भी छोटे पंडित की राय से शत-प्रतिशत सहमत हो गये थे।

बहरहाल सिर पर खड़ी मुसीबत से रिहाई पाकर मैंने वाकई राहत की सांस ली। उन दिनों हाल ही में यूनिवर्सिटी में एडमिशन लिया था। पचीस साल पूरे होने में अभी काफ़ी देर थी। बाद की बातें बाद में सोच ली जाएंगी। लेकिन इस खुशी के मौके पर सुबल 'दा का कमेंट सुनकर मैंने

जोर का धक्का महसूस किया था। उन्होंने मंझले भइया को संबोधित करके कहा, "देखो, अगर इसका ब्याह करना ही है तो मौसी से कहो झटपट कर डालें। उसका वैधव्य-योग कोई किसी दिन भी नहीं मिटा सकता।"

मंझले और छोटे भइया के चेहरे पर विस्मय की छाप थी। मैं भी पल-भर को अचकचा गयी। शायद जन्मगत संस्कारवश ही मुझमें विस्मय जाग उठा था। सुबल'दा मुंहफट जरूर थे, लेकिन वह ऐसा कोई कमेंट करेंगे, इसकी किसी को भी उम्मीद नहीं थी।

सुबल'दा ने अपना मतलब सरल करते हुए कहा, "मेरी राय में वैधव्य का अर्थ है दूल्हे का टिक न पाना, अब वह चाहे किसी भी वजह से क्यों न हो! सवाल यह है कि इसका तमाचा सहते हुए, आखिर कोई कब तक टिका रहेगा? या तो वह फांसी लगा लेगा या मन के दुख के मारे जंगल की तरफ निकल जायेगा या फिर कोई कचहरी करके ब्याह तोड़ लेगा।"

हालांकि उनकी बात सुनकर सबके साथ मैंने भी ठहाका लगाया था, लेकिन साथ ही अपनी नाराजगी जाहिर करते हुए उनके लिए शुभकामना भी की थी, "भगवान करे, तुम्हारी किस्मत में भी कोई तमाचा जड़ने वाली आ जुटे, तब देखूंगी कि तुम क्या करते हो?"

सुबल'दा ने तटस्थ भाव से गंभीर लहजे में कहा, "हां—क्या पता ऐसी ही आ जुटे।"

मैं जानती हूं, यह सब बातें सिर्फ कहने के लिए कही गयी थीं, इनमें कोई अर्थ ढूंढना बेकार था। मैंने भी उनकी बात का बुरा नहीं माना, लेकिन जाने क्या चीज़ थी, जो कानों में खट् से बज उठी थी।

उसके बाद काफी ताम-झाम से मंझले भइया ने ब्याह किया। भाभी का नाम माधुरी था। मुझे भी अपनी भाभी बुरी नहीं लगी। उनका चेहरा भी खूबसूरत और हंसमुख था। यद्यपि वह अपने मैके के बारे में जरूरत से ज्यादा बोलती थी और सोते-बैठते कहानी, उपन्यास, नाटक, नॉवेल पढ़ना जरा अधिक पसंद करती थीं। बस! बड़ी मां का मन अन्दर से स्नेहातुर, लेकिन अकसर वह अपनी अभिव्यक्ति दबा जाती थीं। फिर भी जाने क्या हुआ, बड़ी मां इस बहू को अपने करीब नहीं कर पायी। हालांकि उनके बाहरी आचरण से इसका जरा भी आभास नहीं मिला, लेकिन मन

के भीतर एक खास तार होता है, जिसका न बजना महसूस किया जा सकता है। कुछ दिन बीतते-न-बीतते माधुरी को भी इसका आभास हो गया था। वैसे उनकी तरफ़ से भी एकाध आनुष्ठानिक कोशिशों के अलावा मां के करीब आने की कोई खास उत्सुकता नहीं दीखी। मंझले भइया के ब्याह के बाद माधुरी भाभी की बहन करवी के लिए भी इस घर में आने-जाने की राह आसान हो गयी। उनके यहां जमे रहने की मियाद भी धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। घर में आये हुए रिश्तेदार के आदर-सम्मान में कहीं कोई त्रुटि रह जाये, बड़ी मां ऐसी औरत ही नहीं थी। हालांकि करवी के आने पर उसके आदर-सत्कार में कभी कोई कमी नहीं होने दी लेकिन इन सबके बावजूद उनके व्यवहार में मन का दबा हुआ असंतोष साफ़ झलकने लगा था।

उन दिनों भी मेरा यही खयाल था कि मंझले भइया ने जन्मपत्री मिलाये बगैर ही ब्याह कर लिया, शायद इसीलिए बड़ी मां के मन में अव्यक्त क्षोभ है। एक दिन उन्होंने खुद ही मुझे बुलाकर पूछा, "इसके बाद क्या प्रदीप भी उस करवी से ब्याह करने जा रहा है?"

मैंने बेहद डरते-डरते बड़ी मां के मन का टोह लगाना चाहा, "पता नहीं ...लेकिन अगर मान लो कि वे उसी से ब्याह कर रहे हों, तो क्या हुआ? करवी तो अच्छी लड़की है।"

"मैंने तुझसे उसकी अच्छाई-बुराई के बारे में सवाल नहीं किया। प्रदीप की क्या मंशा है?"

"अरे, वाह! यह मैं कैसे बता सकती हूं? तुम उसी से पूछ लो न?"

"अगर मैं पूछ पाती तो तुझसे क्यों कहती?"

उस दिन सुबल'दा के सामने ही मैंने छोटे भइया को आगाह करते हुए कहा, "बड़ी मां का मन-मिजाज सुविधाजनक नहीं लग रहा है। सीधी राह चले, तो तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं। ब्याह का नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। खैरियत चाहते हो तो करवी को समझा दो कि यहां आये तो बड़ी मां के पीछे-पीछे लगी रहे।"

करवी क्यों, माधुरी को भी मैं नाम लेकर पुकारती थी।

हालांकि बड़ी मां के कानों को मेरा नाम लेना रंचमात्र भी नहीं सुहाता

था। लेकिन मैं भी एक ही बेहया थी ! माधुरी मुझसे साल-भर छोटी थी, मुझसे एक क्लास जूनियर भी थी। उसकी छोटी बहन करवी को तो मैं बिलकुल बच्चा समझती थी।

मगर छोटे भइया जरूरत से ज्यादा जिद्दी थे। गुस्से के साथ-साथ उनका स्वर भी चढ़ जाता था। मेरी उस जरा-सी बात पर उन्होंने तिलमिलाकर कहा, "हर मां महज कर्तव्यवश अपने बेटों का ब्याह करती है, समझी ? असल में कोई भी मां बेटे की बीवी को बर्दाश्त नहीं करना चाहती। इन्टरनल जेलसी—वही चिर-सनातन ईर्ष्या ! ब्याह मेरा होना है, मां मना करने वाली कौन है ?"

अपनी ऐसी महान् मां के संबंध में यह कमेंट सुनकर मुझे बेहद बुरा लगा। लेकिन मेरे कुछ कहने के पहले ही कमरे में जैसे वज्र गिर पड़ा ! बड़ी मां दरवाज़े पर खड़ी थीं। वे बेहद ठंडी और सख्त निगाहों से छोटे भइया को घूर रही थीं। बस ! छोटे भइया का केस खारिज ! कुछेक पलों के लिए बड़ी मां की निगाहें उनके चेहरे पर टिकी रहीं, अचानक उनके होंठ हिले, "मां के मना करने पर भी तू ब्याह करने जायेगा ? मैं पूछती हूं, तेरे पास क्या दस-दस सिर हैं ?...नहीं, मां मना नहीं करेगी, लेकिन यह सलाह जरूर देगी कि कोई भी फैसला करने से पहले एक बार फिर सोच ले।" इतना कहकर बड़ी मां चली गयीं।

छोटे भइया का चेहरा लटक गया। थोड़ी देर बाद वह भी चल दिया।

शुक्ल 'दा ने आरामकुर्सी पर पसरते हुए राय दी, "ग और ध में आकार—गधा।"

उस दिन के बाद से बड़ी मां इतनी गंभीर हो गयीं कि मुझे उलझन होने लगी। आखिरकार मैंने उन्हें ही समझाने की कोशिश की, "जिसके जो जी में आये, करे ! तुम क्यों बेकार अपना दिमाग खराब कर रही हो ?"

उन्होंने जवाब दिया, "आखिर वह मेरा बेटा है ! मैं दिमाग नहीं खराब करूंगी तो और कौन करेगा ?"

"ठीक है ! तो फिर करो अपना दिमाग खराब ! लेकिन इस ब्याह में आखिर तुम्हें क्या एतराज है ? ऐसा तो बहुत बार होता है।"

वड़ी मां ने वेहद ठंडे लहजे में जवाव दिया, "होता ज़रूर है, लेकिन भला नहीं होता !...इसके अलावा मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं थी कि उस घर से एक भी लड़की आये।"

"क्यों ? माधुरी यानी भाभी तो काफ़ी शरीफ़ लड़की है।"

"हां ऽ—अन्त तक शरीफ़ वने रहे, इसी में मंगल है।"

उसी दिन पहली वार वड़ी मां के मन की दवी हुई उद्विग्नता का आभास मिला था। मंझले भइया वहां व्याह करना चाहते हैं, इसका अंदेशा होते ही वड़ी मां ने चोरी-चोरी उस घर के वारे में छान-वीन भी कर डाली थी। माधुरी के डैडी हाईकोर्ट के एँटर्नी थे और मम्मी भी किसी मशहूर वकील की वेटी थीं। उन लोगों को वहुत से लोग जानते थे। वड़ी मां ने छान-वीन करके यह भी पता लगा लिया कि कुछ दिनों पहले उनके यहां किसी गरीव लड़के का काफ़ी आना-जाना था। वह लड़का गरीव होने के वावजूद लिखने-पढ़ने में होशियार था। इसीलिए मां-वाप को भी उससे अपनी वेटियों से मिलने-जुलने में एतराज़ न था। जहां तक उन्हें खवर मिली थी, माधुरी भी उस लड़के को पसंद करती थी। कॉलेज में नौकरी करते हुए, उस लड़के ने किसी सरकारी नौकरी के लिए वड़ी-सी परीक्षा भी दी थी। लोगों को यही उम्मीद थी कि वह इम्तहान में अच्छे नम्वरों से पास हो जायेगा और उसे कोई वड़ी नौकरी भी मिल जायेगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वह लड़का किसी कॉलेज में सिर्फ़ प्रोफ़ेसर वनकर रह गया। माधुरी के डैडी-मम्मी ने उसे निगाह में रखने की ज़रूरत नहीं समझी। उसकी छंटनी कर दी और उसके वाद उनकी वेटी ने भी वेहद सहज भाव से मंझले भइया से मिलना-जुलना शुरू कर दिया।

सारा किस्सा सुनकर मैं भी थोड़ी देर को स्तव्ध रह गयी। लेकिन किसी की वकालत करते हुए एकवारगी निरुत्तर हो जाना गलत है। मैंने कहा, "माधुरी निश्चित रूप से उस लड़के से प्यार नहीं करती थी।"

वड़ी मां ने मेरी वात स्वीकार करते हुए कहा, "हो सकता है, लेकिन उसने सुदीप में ही ऐसा क्या देखा, जो उसे एकवारगी मन में जगह दे डाली ?"

मैं उनकी वातों का भला क्या जवाव देती ! मेरे मन में खुद ही जाने

कैसी-कैसी आशंकाएं जाग उठी। इधर कुछ दिनों से घर की आबोहवा में, खासकर मझले भइया और माधुरी में तब्दीली नजर आने लगी थी। मंझले भइया बेहद गंभीर और माधुरी की सहज बात-चीत में भी व्यंग्य का आभास! शायद छोटे भइया ने बड़ी मां की असहमति के बारे में उन्हें बता दिया था। इस घर में मेरा रौब देखकर या मेरे स्वभाव के कारण माधुरी मुझसे दबती थी। अचानक उसका मन का दबा हुआ आक्रोश मानो भड़क उठा। इसकी वजह शायद यह थी कि इस घर में बड़ी मां की सर्वाधिक प्रिय पात्र मैं ही थी।

घर के छोटे-मोटे मामलों में अब वे खुले तौर से अपने मनोभाव व्यक्त करने लगीं। वे अकसर ही मुझे बुलाकर ताने कसतीं, "यह काम इस तरह होगा या नहीं, या यह काम करना है या नहीं, यह सब भाई, तुम ही मां से पूछ लो। अगर मैं पूछने जाऊं तो राम जाने कौन-कौन-से ऐब निकालें।"

इस बात के जवाब में मैंने मझले भइया की तरफ देखते हुए फिकरा कसा, "क्यों, थोड़ा-बहुत धौल-धप्पा सहने की आदत डाली है या नहीं? कहो तो मैं ही दो-एक हाथ जड़ दूं?"

इसका जवाब माधुरी ने ही दिया। अपने लहजे को यथासंभव मुलायम बनाते हुए कहा, "अब तो मुट्ठी में आ ही गयी हूं। अगर तुम भी दो-एक हाथ जड़ दो, तो मैं कर भी क्या सकती हूं?"

उनके हाव-भाव देखकर एक दिन मुकुल 'दा ने अपनी राय जाहिर की थी, "भई, वाकई इन लड़कियों की दुनिया भी अजीब चिड़ियाखाना है।"

मैंने झल्लाकर पूछा, "क्यों? जिन्दगी में कितनी लड़कियों से पाला पड़ा है?"

मुकुल 'दा ने बेहद निर्लिप्त भाव से दूसरा प्रश्न उछाल दिया, "चावल पक गया है या नहीं, यह जानने के लिए चावल के कितने दाने टटोलने पड़ते हैं?"

पूरा एक साल गुजर गया। इस समूचे साल में इस घर में करवी का आना-जाना उंगलियों पर गिना जा सकता था। अडियल छोटे भइया ने भी जाने क्यों इस बीच ब्याह का नाम तक नहीं लिया। मेरे ख्याल से उनको

आप

पर्व बाहर-ही-बाहर संपन्न होता था और इन दिनों तो उनका काम-काज में भी काफ़ी मन लग गया था।

एम० ए० पास करने के बाद मैंने भी भइया की फ़र्म में अपना नाम लिखा लिया यानी मैं भी उनमें से एक होना चाहती थी। मंझले भइया या छोटे भइया ने अपनी तरफ़ से कोई आपत्ति नहीं की और सुबल 'दा को तो खैर, कभी कोई आपत्ति थी ही नहीं। उल्टे उन्होंने मजाकिया लहजे में अपनी राय दी, "विज्ञापन-फ़र्म में कुछेक स्मार्ट लेडी भी रहें तो बुरा नहीं! आजकल जो ज़माना आ गया है, दो-एक लड़कियों का इन्तजाम ज़रूरी है, ताकि जिनसे बिज़नेस किया जाये, उन कमबख्तों का दिमाग ही चकरा जाए।"

उनके बोलने का लहजा ऐसा था कि सबने ज़ोर का ठहाका लगाया।

मैंने भी उसी तरह एक-एक शब्द पर बल देते हुए कहा, "हां-हां! बेशक ज़रूरी है! अकेले तुम लोगों में आख़िर हिम्मत भी कितनी होगी?"

मेरा बिज़नेस में शामिल होना हालांकि बड़ी मां को कतई पसंद नहीं आया, लेकिन वह बहुत बड़े लहजे में विरोध भी नहीं कर पायीं। पचीस साल पूरे होने में अभी तीन साल देर थी। घर में बैठकर आख़िर करती भी क्या? फिर भी बड़ी मां ने आखिरी कोशिश करते हुए कहा, "समय काटने के लिए अगर नौकरी ही करनी है, तो कोशिश करके किसी कॉलेज में प्रोफ़ेसर बन जा! इन सब झमेलों में तू क्यों पड़ती है?"

उनकी दुविधा पर मैंने ध्यान ही नहीं दिया। जब घर में ही काम करने की सुविधा हो तो नौकरी के लिए किसके दरवाज़े धरना देने जाती? और फिर प्रोफ़ेसरी? भगवान बचाये! टीचर-प्रोफ़ेसरों की हमेशा तनी हुई शक्लें देखकर मुझे जोर की हंसी आने लगती है।

साल-भर के अंदर ही मैंने अपनी योग्यता का सबूत दे डाला। मेरी वजह से फ़र्म की आमदनी बढ़ गयी। मेरी राय के अनुसार दफ़्तर के कामों की ट्रेनिंग के लिए अन्य दो-तीन लड़कियों को भी शामिल किया गया। उन तीनों में दो शादी-शुदा थीं और एक कुंवारी।

आजकल जो ज़माना आ गया है, जाने कितनी बहू-बेटियों को नौकरी की तलाश में घर से बाहर भटकना पड़ता है। उन्हें कहीं खोजने की ज़रूरत

नही पडती, वे खुद ही पहुच जाती है, नौकरी की आशा मे धरना देती है।

कहने का मतलब यह था कि लोग मेरे अनुरोध-आग्रह की उपेक्षा नही कर पाये और उन तीनों लडकियो को लेना ही पडा। कुछ दिनो बाद ही यह सच्चाई भी स्पष्ट हो गयी कि उन्हे अपने फर्म मे ले लेने मे फ़ायदा ही हुआ। वे लोग सचमुच काफी फ़ायदेमद साबित हुई। हालांकि तीसरी लड़की को शामिल करते हुए मुकुल'दा ने मज़ाक किया, "तुम क्या धीरे-धीरे यहा प्रमिला-वाहिनी का निर्माण करना चाहती हो?"

"हा, चाहती तो हू! वरना तुम लोगो का काम मे मन कैसे लगेगा? छोटे भइया को देख नही रहे हो?"

छोटे भइया ने छूटते ही धमकाया, "एइ! तुझे मैं थप्पड लगाऊ क्या?"

हा, मुकुल'दा ने ही कहा था, विज्ञेनेसवालो का दिमाग खराब करने के लिए यह इन्तज़ाम जरूरी है। लगभग डेढ साल के कर्मशील जीवन मे मैंने भी यह बात महसूस की कि मजाक-मजाक मे कही गयी बातो के पीछे भी कभी-कभी कोई गहरा अर्थ छिपा होता है! थोडा-बहुत दिमाग खराब होना भी प्रवृत्ति के अन्य नियमो की तरह बिलकुल सच लगा। हमारे इस विज्ञापन और प्रचार-सस्था का सबध सिर्फ विजनेसमैन और उद्योगपतियो से ही नही था, बल्कि कुछेक सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिष्ठानो के साथ भी था। यह मेरा निजी अनुभव है कि सरकारी सस्थानों से घनिष्ठ सपर्क बनाये रखने से गैर-सरकारी उद्योगपति अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित होते हैं।

इन उद्योगपतियो या विभागीय प्रधान कार्यकर्ताओ की कार्य-धारा अधिकतर निर्लिप्त स्टील की तरह होती है। इन लोगो मे लेन-देन की सौजन्यता भी किसी हद तक बेहद औपचारिक होती है। मुझे मालूम हो चुका था कि दाहिनी और बायी हथेली का आपसी कारबार चलता रहे तो लेन-देन का रिश्ता भी अधिक घनिष्ठ हो जाता है। लेकिन मैं शुरू से ही इस मामले मे तटस्थ थी। इसके अलावा हर कोई दाहिनी-बायी हथेलियों की हेरा-फेरी का गुलाम है, ऐसा आक्षेप मैं क्यो लगाने जाऊ?

लेकिन अपने निजी अनुभवों की बदौलत मैं इस फ़ैसले पर पहुच चुकी

बापसी

थी कि आदमी अगर उन गण्यमान व्यक्तियों की तटस्थता की सीमा का अतिक्रमण कर सके या उन्हें ही उस तटस्थता से बाहर खींच लाये तो बहुत से क्षेत्रों में वह बेहद उदार हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में वह नियम कानून के घेरे में रहते हुए अनायास ही थोड़ा-बहुत पक्षपात करने को भी तैयार हो जाते हैं। उनकी यही उदारता और पक्षपात ही हमारे लिए एकमात्र काम्य है। अगर इतने-से सहारे का भरोसा हो जाये तो इस तरह की संस्थाओं की समूची शक्ल ही बदल जाती है।

हमारी फर्म का भी रंग-रूप बदल गया था।

मैं वहां की जन-सम्पर्क अधिकारी थी—यानी पब्लिक रिलेशन ऑफ़िसर! सच कहूं तो हर कोई यही होता है। सम्पर्कों के माध्यम से किसी तरह प्रचार-कार्य वसूल करना ही असली काम है! आजकल तो शहर के राजपथ पर यानी केन्द्र में अवस्थित बहुत सारे विज्ञापन-साइट हमारी ही दखल में थे, अतः हमारे काम की ज़िम्मेदारियां भी काफ़ी- कुछ बंट गयी थीं। लेकिन उन सब विशेष जगहों पर विज्ञापन दे सकें, ऐसी ज़ोरदार पार्टी जुटाने के लिए सम्पर्कों का सहारा तो लेना ही पड़ता है। हालांकि हममें से हर किसी पर लोगों से जान-पहचान बढ़ाने की ज़िम्मेदारी है, लेकिन पब्लिक रिलेशन ऑफ़िसर जैसी पद-मर्यादा की मुहर एकमात्र मेरे ही नाम के साथ लगी थी।

मेरे दोस्ताना संबंधों का सुपरिणाम देखकर भइया लोग जहां जाहिरी तौर पर खुश थे, सुबल 'दा भी मन-ही-मन प्रसन्न हुए थे। कोई बड़ी पार्टी अगर हमारी मारफ़त काम नहीं कर रही है या कम्पीटीशन की मेहरबानी की वजह से कोई बड़ी पार्टी किसी और जगह अपना अनुग्रह बरसा रही हो तो सुबल 'दा फ़ौरन पूछ बैठते थे, 'दीपू, तेरे रहते हुए, यह कैसे सम्भव हुआ? फलां पार्टी हमें काम क्यों नहीं दे रही है? या फलां पार्टी ने काम देना कम क्यों कर दिया?"

यह सुनते ही मेरी नसों का खून सिर पर चढ़कर नाचने लगता था। जब तक उन पार्टियों को अपने वश में न कर लेती, मेरी सुख-शांति हराम हो जाती थी। उसी वक्त मैं कार दौड़ाती हुई उन पार्टियों के यहां पहुंच जाती। हां, ड्राइविंग मैंने दो साल पहले ही सीख लिया था। छोटे-मोटे

कामों के लिए मैं अकेली ही चल देती थी। अगर कोई बड़ी पार्टी हुई तो मीता को भी अपने साथ ले जाती थी। मीता दत्त ! उसका पति किसी दफ्तर में क्लर्क था और परिवार में अनगिनत देवर और ननदें भी शामिल थीं। वैसे वह काफी हंसमुख थी। बेहद अल्प-भाषी ! और होंठों के कोनों में हर वक्त एक सलज्ज हंसी खिली रहती थी। खैर, मैं उसे लोगों का दिमाग खराब करने के खयाल से अपने साथ नहीं ले जाती थी। मीता बी० एस-सी० पास थी। बड़े-बड़े मामलों में हाथ लगाने से पहले बेहद स्मार्ट तरीके से किसी कागज के टुकड़े पर कभी-कभी हिसाब-किताब करने का रौब भी गालिब करना जरूरी था। लेकिन इस मामले में मैं अपने को ही काफी माहिर साबित कर चुकी थी। वैसे सवाल देखते ही मेरा दिमाग घूम जाता है। मीता सवाल और हिसाब-किताब अच्छी तरह समझ लेती थी। बी० एस-सी० में उसने ऑनर्स या बी० टी० नहीं किया था, इसीलिए लाचार होकर उसे हमारा फर्म ज्वाइन करना पड़ा था। उसे मुकुल 'दा ने ही यहां ला जुटाया था। वह उनके किसी परिचित दोस्त की रिश्तेदार थी।

हां तो, मैं लोगों से बिज़नेस हथियाकर ले आती थी। अपना काम मैं इतनी आसानी से निकाल लेती थी कि कभी-कभी खुद मुझे भी अचरज होता था। हालांकि बहुत ज्यादा हंसी-दिल्लगी करने की मेरी आदत नहीं है और न ही मैं लड़कियाना अंदाज में ऐसी पहेलियां बुझाती थी, जो मेरे आत्म-सम्मान को छोटा कर जाये। कहने का मतलब यह है कि मैं ऐसा कुछ भी नहीं करती थी, जो मेरे विवेक को आहत करता। मैं तो सीधे अपने लक्ष्य-स्थल में पहुंच जाती थी। अंदर कार्ड भिजवाने के बाद चेहरे पर एक मुसकान खींचकर उस व्यक्ति के सामने जा बैठती, जिससे अपना काम निकालना होता था। अगर वह कोई परिचित पार्टी हुई तो अपनी असली बात शुरू करने से पहले उससे दो-एक कुशल-प्रश्न भी पूछ लेती। अगर पार्टी नयी हुई तो अपना कार्ड भेजने के बावजूद सलज्ज विनम्रता से एक बार फिर अपना परिचय दोहरा देती थी। हमने किन बड़ी-बड़ी कम्पनियों और उल्लेखनीय सरकारी डिपार्टमेंट में काम किया है, फाइल खोलकर सारे कागज-पत्र निकाल लेती और उसके बाद उसकी

आंखों में आंखें डालकर सविनय प्रश्न करती, "हमें आपका काम क्यों नहीं मिल रहा है ? या काम न मिलने की क्या वजह है ? हम लोगों से कहीं कोई भूल-चूक तो नहीं हो गयी ?" मैं विनयपूर्वक यह पूछना भी नहीं भूलती थी।

जिन लोगों ने काम नहीं दिया, वे दे डालते। जिन्होंने काम देना कम कर दिया था, अनायास ही आर्डर बढ़ा देते। ऐसा तो अकसर होता ही रहता है। अगर एक दिन की कोशश में कामयावी नहीं मिली तो दूसरे दिन फिर कोशिश करती...तीसरे दिन फिर करती और काम बन जाता था। जो मुवक्किल ज़रा अधिक रसिक होते वे पहली बार वेहद गंभीर भाव से झूठे वहाने जड़कर असमर्थता जाहिर करते थे और दो-एक चक्कर लगवाते थे। वैसे यूं चक्कर लगवाने की वजह भी मैं समझ चुकी थी। वहां से वाहर निकलकर मैं ज़ोर का ठहाका लगाती थी। जैसे भी बने, अपना काम निकालना ही तो मेरा एकमात्र उद्देश्य था।

ऐसे ही एक दिन एक वड़ी सिन्धी पार्टी को पटाकर, काफ़ी मोटी आमदनी का इंतज़ाम पक्का करके जब दफ़्तर लौटी तो हम सब मिलकर जश्न मनाने में मशगूल हो गये। वहां मीता दत्त ही एकमात्र वाहरी व्यक्ति थी—"मेरी ही मेहरवानी से इन दिनों वह भी हम लोगों की यानी ऊपरवाले मालिकों से भी थोड़ी-वहुत अन्तरंग हो उठी थी।

उसके सामने ही सुवल 'दा ने अपनी खुशी दवाते हुए मुझसे मज़ाक किया—"अपना ए काध जादू ज़रा हम लोगों को भी सिखा देना ! कमला है ! सिर्फ़ दो दिनों की कोशिश और ऐसा जवरंग सिन्धी तक एकवारगी घायल !"

मैं तो पहले ही स्वीकार कर चुकी हूं कि सुवल 'दा की प्रशस्ति ही मेरे लिए सवसे वड़ा इनाम था। इस दफ़्तर में जो कुछ भी होता था, उन्हीं की योजनानुसार होता था। अगर दिन को रात में वदलने की भी ज़रूरत पड़े तो उसका तरीका एकमात्र वही वता सकते थे। उनसे तारीफ़ सुनकर मैं अंदर-अंदर खुशी से खिल उठी। लेकिन लोगों के सामने ग़म्भीरता ओढ़कर मीता की ओर इशारा करते हुए कहा, "जो कुछ हुआ, सव इसकी वजह से हुआ। मीता की मीठी-मीठी हंसी देखकर वह शरीफ़ आदमी

बिलकुल काम में गया।"

सीता संकोच में गड़ गयी। उसने छूटते ही जवाब दिया, "अरे, वाह! पूरे दो दिनों में कितने सारे घंटे होते हैं। दीपिका 'दी के कहने पर मैंने तो सिर्फ आधा घंटा के लिए उन भले आदमी को हिसाब-किताब समझाया था। साल-भर में कितना काम न मिलने पर हमारी फर्म को कोई फायदा नहीं होता, बस इसका हवाला दे डाला। दीपिका 'दी ही तो उसे लगातार दो दिनों से यही घुट्टी पिलाती रहीं कि उनकी पब्लिसिटी फर्म की तरह दुनिया में शायद ही कोई फर्म हो।"

मैं मन-ही-मन उमग आयी लेकिन सीता दत्त की तरफ कृत्रिम गुस्से से देखकर कहा, "एइ लड़की, मैंने तो तेरी तारीफ की और तू मेरी बरबादी कर रही है?"

हाँ, सच बात यही थी कि अनजाने में ही जैसे मुझ पर नशा सवार हो गया था। बिज़नेस की दुनिया के गण्यमान व्यक्तियों पर अपना जादू चलाकर, उनसे बिजनेस वसूलने का नशा। जितनी आसानी से काम मिलता गया, उन पर अपना जादू चलाने का नशा और चटख होता गया। नहीं, चटख से मेरा यह मतलब हरगिज नहीं है कि मैंने अपनी आत्मसर्यादा के संदर्भ में कहीं कोई समझौता किया था—हां, अनगिनत बहनों के माध्यम से उन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को पार्टी देना, उनकी पार्टियों में शामिल होना—इनके रख-रखाव में दिन-पर-दिन अपनी ही निगाहों में अपनी इज्जत बढ़ती जा रही थी।

मेरा यह रवैया दूसरों की निगाहों में कैसा लगता है, इस बात को लेकर मैं कभी परेशान नहीं हुई। घर में दे-देकर माधुरी थी। उसे मैंने कभी किसी काबिल ही नहीं समझा। मेरा खयाल था, मुझे मर्दों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलते देखकर वह मुझसे ईर्ष्या करती थी। बच रहीं बड़ी माँ। उनकी नजर में मेरा बिजनेस में हो-हल्लड़ मचाना, मनमानी करना, निश्चित रूप से कहीं बुरी तरह अखरता था।

शुरू-शुरू में उन्होंने मुझे समझाने की कोशिश की, "तू क्या सोचती है, ब्याह के बाद भी तेरे ही दम पर यह बिजनेस चलेगा? घर में कभी तुझे पल-भर के लिए भी थिर होकर बैठते नहीं देखा। इतनी घुमक्कड़ी अच्छी

बात नहीं है।"

बड़ी मां की बातों पर मैं नाराज नहीं होती थी। कभी-कभी हंसकर जवाब भी दे देती थी, "अरे! मैं तुम्हारी कितनी कामकाजी बिटिया हूं, अगर तुम जान पातीं, तो शादी-ब्याह का नाम भी अपनी जुबान पर नहीं लातीं। जरा अपने बेटों से पूछ देखो न!' कभी मैं बात को घुमाकर कहती, "ब्याह के बाद क्या करूंगी, मुझे नहीं मालूम! लेकिन मेरे ब्याह का इन्तजाम कुछ और तरह से करना होगा, यह बताये देती हूं।"

"कैसा इन्तजाम?"

"लड़केवाले लड़की देखने नहीं आयेंगे। तुम्हारी बेटी ही लड़का देखने जायेगी और लड़के को लड़की तरह की सज-धजकर बैठना होगा।"

बड़ी मां नाराज होने के पहले ही हंस पड़ीं।

बाद में माधुरी ने व्यंग्य किया, "भई, तुम्हारे मामले में तो वह शायद इसके लिए भी राजी हो जायेंगी।"

मैंने भी पलटकर हंसते हुए नहले पर दहला जड़ा, "बात ऐसी है, डियर कि मुझे पाने के लिए बहुतों को बहुत-सी बातों के लिए राजी होना होगा। तुम चाहे कितनी भी उसांसें भरो।"

हां, मुझे पता है, मेरा यह रवैया बड़ी मां को सख्त नापसंद था। उनकी नापसंदगी क्रमशः बढ़ती जा रही थी, लेकिन अब उन्होंने मुझसे कहना-सुनना छोड़-दिया था। शायद वह समझ गयी थीं कि मुझे समझा-बुझाकर कोई उस राह से वापस नहीं ला सकता। अब वह अकसर गंभीर रहने लगी थीं। लेकिन उनकी मौन, स्थिर आंखें हर वक्त मुझे घूर रही हैं, यह मैं महसूस कर रही थी।

बड़ी मां को मैंने कभी दोष भी नहीं दिया। आजकल के जमाने के बारे में उन्हें कोई अंदाज नहीं था। आजकल लड़कियां लड़ाई पर जाती हैं, हवाई जहाज चलाती हैं—ये सब सूचनाएं वे अखबारों में पढ़ती जरूर थीं, लेकिन इस बारे में कभी सोचा नहीं था। आज भी उनके मन का कोई कोना घिसी-पिटी दकियानूसी जंजीरों को तोड़ नहीं पाया था।

ठीक उन्हीं दिनों, एक ऐसी घटना घट गयी कि दिमाग में भक्क-से आग

जल उठी। हालांकि उस घटना को बेहद उपेक्षा से उड़ा देना ही उचित था, लेकिन उस समय मुझमें इतना धीरज नहीं था।

जाने किस दो कौड़ी के अखबार में काफी मिर्च-मसाला लगाकर एक चुटीली खबर प्रकाशित हुई। उसे पढ़ते हुए यह बात समझने में ज़रा भी देर नहीं लगी कि उस गन्दे चटकीले व्यंग्य का निशान हमारी ही तरफ़ था यानी उनका लक्ष्य हमारी प्रचार-संस्था की तरफ था। उनके कटाक्ष भरे तीरों का सारा निचोड़ यह था कि आजकल हर प्रतिष्ठान में व्यापारिक सफलता की आशा-आकांक्षा को पुष्ट करने के लिए अंदर-ही-अंदर मधु-चक्र चलाये जा रहे हैं। यह कहना फिजूल है कि इन सब मधु-चक्रों में खूबसूरत और पढ़ी-लिखी लड़कियों की हँसी-दिल्लगी का एक खास आकर्षण है। इसी प्रसंग में हालांकि उन्होंने किसी संस्था का नाम नहीं लिया था, लेकिन एक *ऐसी प्रचार-संस्था का जिक्र किया था, जहां इस तरह के मधु-चक्र की* स्थापना से कम्पनी का मुनाफा हर साल दुगुना होता जा रहा है। इसकी एकमात्र वजह यही है कि इन मधु-चक्रों से फंसकर बहुत सारी सरकारी और गैर-सरकारी कम्पनियों के कर्णधार, रूप की आग में जान दे देने वाले पतंगे की तरह अतिशय उदार भाव से करुणा बरसाने लगे हैं। वे लोग खुले हाथों से अपनी कम्पनियों के प्रचार का भार उस संस्था पर लुटा रहे हैं, जो विज्ञापन के बहाने मोटी-मोटी आमदनी उड़ा रही है। खैर, बिजनेस के क्षेत्र में इस प्रगति को लेकर किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। अगर ऐसे मधु-चक्रों की स्थापना में असमर्थ छोटे-मोटे सर्वस्तरीय व्यवसायियों के मुंह से आह न निकलती। खबर के अन्त में एक पंक्ति और जोड़ दी गयी थी कि इस मामले में अधिकाधिक संवाद-संग्रह की अपेक्षा में, यह सूचना यहीं स्थगित की जाती है।

यानी भविष्य में कुछ और खुराक जुटाने का वादा! मझले और छोटे भइया चुप! सुवन 'दा के होंठों पर निर्विकार हंसी का आभास। मारे गुस्से के मैं अंदर तक सुलग उठी। जाने किस उपन्यास में पढ़ा था, किसी अखबार में इसी तरह का कोई गंदा जहर बिखेरा गया था, अतः हीरो हाथ में चाबुक लेकर कार्यालय में उपस्थित होता है और सम्पादक की पीठ पर कई निशान बनाकर वापस चला जाता है। मेरे अंदर भी कुछ

उसी किस्म की तीखी चाह भड़क उठी।

मेरी तीखी नाराजगी के बावजूद बड़ी मां ने बेहद गंभीर भाव से अपनी राय जाहिर की, "देख, तेरी नाराजगी किस-किस का मुंह बंद करेगी? लोग तो तिल का ताड़ बनाएंगे ही।"

मैंने बगैर कुछ सोचे-समझे तड़ाक से उनके मुंह पर ही जवाब दे डाला, "लगता है तुमने भी मन-ही-मन तिल का ताड़ बनाया है।"

बड़ी मां की निगाह पल-भर को मेरे चेहरे पर ठहर गयीं। उन्होंने धीरे से कहा, "तेरा स्वभाव सचमुच बहुत बिगड़ गया है, दीपू!"

मेरे अंदर का गुस्सा और तेजी से भड़क उठा। बड़ी मां के जाते ही मैंने सुबल 'दा से कहा, "उस अखबारवाले से अपने सारे संबंध तोड़ लो। उनको विज्ञापन सप्लाई देना आज से बिलकुल बंद।"

सुबल 'दा ने जवाब नहीं दिया, लेकिन उनके होंठों की शरारती हंसी और गहरी हो आयी।

मंझले भइया ने ही बात शुरू की, "असल में तेरा तो दिमाग खराब है! भई, हम लोग तो किसी-न-किसी पार्टी के लिए काम करते हैं न! अब अगर पार्टी उसी अखबार में इश्तहार देना चाहे, तो हम उसे कैसे रोक सकते हैं? और फिर कोई भी अक्लमंद आदमी अखबारवालों से दुश्मनी मोल नहीं लेता।"

खैर, सुबल 'दा की सलाह के मुताबिक यही तय हुआ कि अखबार में प्रकाशित रिपोर्ट को नजरअंदाज कर देना ही बेहतर है। शहर में कितने सारे विज्ञापन-फ़र्म हैं, किसे मालूम होगा कि उसमें किस कम्पनी की चर्चा है? असल में यह सिरदर्द उनका नहीं, पार्टियों का है, जो काम-काज देते हैं। पार्टियों में भी जो गैर-सरकारी पार्टी है, वह इन बदनामियों की परवाह नहीं करती। हां, जो लोग सरकार से संबद्ध हैं, वही थोड़ी-बहुत परवाह करते हैं।

...लेकिन ऐसी गंदे रिपोर्ट दुबारा न प्रकाशित हो, इसका इंतजाम भी जरूरी था। सुबल 'दा ने बताया कि जहां तक उन्हें खबर मिली है, उनके किसी दोस्त ने अखबार की नौकरी शुरू की है। वह उससे मिलकर असली बात का पता लगाने की कोशिश करेंगे।

हालांकि इतना बड़ा अपमान चुपचाप हजम कर जाना पड़ा लेकिन मेरा गुस्सा आसानी से शान्त होने वाला नहीं था। ऐसी टुच्ची रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद घर के दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया को मैंने स्पष्टतः महसूस किया। बड़ी मां नाराज थी और माधुरी मन-ही-मन खुश। शायद मुझे उचित सबक मिलने की वजह से उसे खुशी हुई थी। खैर, मेरी दृष्टि में यह उसकी नादानी और नासमझी के अलावा और कुछ नहीं था। लेकिन फिर भी जब-जब मुझे यह लगा कि वह मन-ही-मन मुझ पर हंस रही है, मैं गुस्से से तिलमिला उठती थी।

इस घटना के हफ्ते-भर बाद ही एक और घटना घट गयी। उस वक्त दोपहर के साढ़े तीन बजे होंगे। एक मशहूर विदेशी होटल में किन्हीं तीन लोगों से शाम साढ़े-पांच बजे का एप्वायंटमेंट था। वे लोग बम्बई के बिजनेसमैन थे और काफी दिनों से पूर्वी इलाकों में उनके बिजनेस-प्रचार की जिम्मेदारी सोलहों आने हमारे कंधों पर थी। साल के अंत में उनसे हमें एक मोटी रकम मिलती थी। अतः उनके मालिक-मुख्तार अगर कभी हमारे शहर में आते थे, तो उनकी खातिरदारी में हम कोई कसर बाकी नहीं रखते थे। इस बार तीन-तीन लक्षपतियों के आने के बावजूद, सुबल 'दा ने उनके लिए अलग-अलग पार्टी न देकर, एक ही होटल में उन सबके एंटरटेनमेंट का इन्तजाम किया था।

सुबल 'दा और मझले भइया अभी तक लौटे नहीं थे। खैर, वे लोग ठीक समय से पहुंच ही जायेंगे या फिर सीधे होटल चले जायेंगे। उस वक्त छोटे भइया भी घर में नहीं थे। आज मुझे तैयार होने में थोड़ा वक्त लगेगा, यह खयाल आते ही मैंने विदेशी पत्रिका एक ओर फेंक दी और बिस्तर छोड़कर उठ खड़ी हुई। हां, आज तैयार होने में निश्चित रूप से थोड़ा वक्त लगेगा, क्योंकि आज सुबह से ही मुझे फ्री-हैंड कसरत के लिए भी फुरसत नहीं मिली थी। यह तो मैं पहले ही बता चुकी हूं कि शरीर की चुस्ती और फिगर की खूबसूरती की जरूरत की मैंने कभी उपेक्षा नहीं की। अपने जरूरत-भर की शारीरिक मेहनत मैं हर रोज कर लेती हूं। अब तो जैसे इसकी आदत पड़ गयी है। अगर किसी दिन मैं कसरत न करूं, तो बदन में हल्का-हल्का दर्द रहता है और मैं बेहद

बापसी,

शिथिलता महसूस करती हूं। लेकिन इसके बावजूद कभी-कभी व्यतिक्रम हो ही जाता है।

उस शाम पार्टी में पहनकर जाने वाले कपड़े वगैरह का चुनाव मैं पहले से ही ठीक कर चुकी थी, लेकिन फिर भी एक बार आईने के सामने खड़े होकर साड़ी-ब्लाउज अपने बदन पर डालकर एक नजर देख लिया कि मेरी खूबसूरती में कहीं कोई कमी तो नहीं रह जायेगी। इस तरफ़ से निश्चिन्त होकर मैंने अपने आंचल का फेंटा बांधकर कमर में खोंस लिया और फीगर बनाने में जुट गयी। सबसे पहले कुछ देर तक उठ-बैठ, फिर नियमानुसार फ्री-स्टाइल में हाथ-पैर चलाना, देह को झुकाना-सिकोड़ना और अंत में थोड़ी-सी स्क्रिपिंग! कुल मिलाकर पन्द्रह-बीस मिनट का काम था। लेकिन इतने में ही, ऐसी ठंड में भी सारी देह, गर्म हो उठी और हल्का-हल्का पसीना भी आने लगा। मैंने आईने के सामने खड़े-खड़े आंचल खोलकर गरदन-चेहरा अच्छी तरह पोंछ डाला। ऐसी ठंड में असमय नहाने का सवाल ही नहीं उठता था। चेहरा और हाथ-पैर धो-पोंछकर हल्का-सा मेकअप ही काफ़ी था।

पसीना पोंछकर मैं थोड़ी देर अपने बालों में कंघी फेरती रही। उसके बाद आहिस्ता से एक गुच्छा रूखे बाल कानों के पास गालों तक ले आयी—जैसा मैं हमेशा करती हूं। मुझे पता है सिर्फ़ इतना भर ही लोगों की आंखों को खुश करने के लिए काफ़ी है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, खूबसूरत दीखने के लिए किसी की बात सुनते हुए किस कोने से, कितना-सा मुसकराना होगा और कौन-से दांत से होंठों को कितना झुकाना या दबाना होगा दो-एक बार इसका भी रिहर्सल कर डाला। हां, यह तो मैं भी मानती हूं कि खूबसूरती के इन सब प्रयत्नों में कोई अति कर देता है तो वही बेहद अशोभन और मर्यादाहीन लगता है, वरना कुशल मेकअप की तरह ये कोशिशें भी बेहद खूबसूरत और आकर्षक लगती है। इससे अपने प्रति लोगों के मन का संकोच-भरा आकर्षण और बढ़ जाता है। अपने होंठों को दांतों से दबाते हुए, जब मैं अपनी खूबसूरती को चटख करने की कोशिश में तल्लीन थी, ऐसे में आईने पर नजर डालते ही, अचानक जोर का धक्का लगा। अब तक मैं अपने में ही डूबी हुई थी, वरना यह धक्का शायद बहुत

पहले ही मुझे शॉक दे जाता।

पल-भर को मैं विस्मय-विमूढ़ आंखों से आईने में झांकती हुई शक्ल की तरफ देखती रही।

मेरे और बड़ी मां के कमरे के बीच वाला हॉल खासतौर से औरतों के उठने-बैठने के लिए रिजर्व था। लेकिन वहां किसी बाहरी औरत का आना-जाना शायद ही कभी होता हो। उसी हॉल कमरे का दरवाजा करीब आधा हाथ-भर खुला हुआ था। उससे सटा हुआ, गले तक ऊंचा और कीमती लकड़ी का पार्टीशन खिंचा हुआ था। उस पार्टीशन के ऊपर से झांकते हुए, स्थान-खयाल का अहसास भूलकर, एक मूर्ति बेहद मासूमियत और विस्मय-विमुग्ध आंखों से सीधे मुझे ही निहार रही थी। सिर पर झौवा भर बाल और बिलकुल गोरा-चिट्टा रंग। वह मुझे एकटक घूर रहा था। आइने में मेरी भी आंखें उसी के चेहरे पर गड़ी हुई हैं, उसे इसका भी होश नहीं था।

शालीनताहीन चेतना-वर्जित एक पुरुष का निर्बोध-मासूम चेहरा।

पहले मुझे ही होश आया।

उस अधखुले दरवाजे से पार्टीशन का सिर दीख रहा था और पार्टीशन के उस पार से किसी को गर्दन बढ़ाकर अंदर झांकते हुए देखकर मेरी नसों के गर्म खून को सिर तक चढ़ने में जरा भी देर नहीं लगी। कौन जाने वह कब से खड़ा था और मेरी देह-चर्चा के कौन-कौन-से पर्व देख चुका था। वह जिस तरह मुझे एकटक घूर रहा था, मुझे लगा दो-एक बार अच्छी तरह झकझोरे जाने के पहले उसे होश आना नामुमकिन है। अपनी इस तेईस साल की जिन्दगी में ऐसे किसी व्यक्ति से मुलाकात नहीं हुई थी, जो पल-भर की मुलाकात में इस कदर चक्षुशूल बन गया हो।

मैं एक झटके से घूमकर खड़ी हो गयी। पार्टीशन के पीछे से झांकते हुए चेहरे में तब भी कोई हरकत नहीं हुई। मेरे इस तरह घूमकर खड़े होने से और अगले ही पल भयकर गुस्से से दरवाजे की तरफ बढ़ने देखकर वह मानो हिलने-डुलने की शक्ति भी खो बैठा। मेरे हाथ के धक्के से अधखुले

किवाड़ एकबारगी खुल गये। विस्मित व्यक्ति अनजाने में ही दो कदम पीछे हट गया।

पार्टीशन पार करके मैं उसके बिलकुल सामने जा खड़ी हुई। हममें सिर्फ़ गज़-भर की दूरी थी।

वह आदमी इतना घबरा गया था कि वह क्या करे या क्या कहे, यह भी तय नहीं कर पाया। अगर किसी को भयंकर अपराध करते हुए रंगे हाथों पकड़ लिया जाये तो आत्मरक्षा के उसके चेहरे पर जैसी याचना उभरती है, उसका चेहरा भी उसी तरह कातर हो आया था। उसका उजला-धुला रंग भी मेरी आंखों में कांटों की तरह चुभ गया।

आत्मरक्षा की कोशिश में उसने जबरन सफ़ाई देते हुए कहा, "मैं... मैं...असल में मुझे ठीक-ठीक..."

मैं उसकी आंखों में उसी तरह स्थिर भाव से देखती रही। मेरी तीखी निगाहों ने उसे पलक झपकाने की भी मोहलत नहीं दी।

उसने थूक निगलते हुए दुबारा कुछ कहने की कोशिश की, "जी... मैं...मैं शुद्ध अधिकारी हूं।"

उसका नाम सुनकर मेरे मन की आग जैसे दुगुनी तेज़ हो उठी। उसको बुरी तरह बेइज्ज़त करने के खयाल से मैं उसी तरह मौन और रुक्ष-गंभीर आंखों से उसकी तरफ़ अपलक देखती रही।

दो-दो बार कैफ़ियत देने की कोशिश में बुरी तरह असफल होने के बाद उसने बेहद मायूस आवाज़ में कहा, "आप तो...भयंकर नाराज़ हो गयी हैं।"

मैंने अपनी आवाज़ में काटने वाली तटस्थता मिलाकर पूछा, "कौन हैं आप?"

अभी पल-भर पहले वह अपना नाम बता चुका था। मेरे सवाल पर उसने हड़बड़ाकर दुबारा कहा, "बताया तो शुद्ध अधिकारी। शुद्ध..."

"शुद्ध अधिकारी कौन?"

जैसे किसी डूबते हुए को किनारा मिल गया हो, उसे भी जैसे नये सिरे से उम्मीद बंधी..."जी, आप लोगों के चन्द्रनाथ...यानी...उन्हीं चन्द्रनाथ बाबू का बेटा...माने छोटा बेटा।...ब...बचपन में आपने भी मुझे देखा

होगा।"

यह चन्द्रनाथ कौन था? उसका छोटा बेटा कौन था या बचपन में मैंने उसे कभी देखा था या नहीं—इन प्रश्नों का उत्तर सोचने के मूड में मैं बिलकुल नहीं थी। वर्ना इस आदमी को चाहे देखा हो या नहीं लेकिन चन्द्रनाथ बाबू का नाम याद न आने का कोई सवाल ही नहीं था। गले की आवाज तेज़ किये बिना भी झल्लाहट व्यक्त करना सम्भव है। मैंने पूछा, "यहां इस मकान में आपको किसने आने दिया?"

"जी, वह सुबल 'दा हैं न...मैं उन्हीं के पास आया था। मेरा मतलब है, उन्होंने ही मुझे बुलाया था। इस वक्त वह तो घर पर नहीं मिला... आ...आ. आपकी बड़ी मा ने मुझे ऊपर बुला भेजा। मुझे देखकर वे ब—होत खुश हुई। अभी वे...शायद कुछ ना.. नाश्ता वगैरह लाने गयी है। क. क.. काफी दिनों बाद मुझे देखा है न।"

मैंने नाराज होने के बजाय बमुश्किल अपने होंठों तक आयी हुई हंसी सभालने की कोशिश की। खैर, इतना तो समझ में आ गया कि वह हमारे परिवार का ही कोई परिचित होगा। बड़ी मा ही इस घर की कर्त्ता-धर्त्ता हैं, उन्हें यह भी मालूम है। एक मैं ही उसे नहीं पहचान पायी, यही उसके लिए अचरज की बात थी। लेकिन अब धीरे-धीरे उसका चेहरा-मोहरा कुछ-कुछ परिचित लग रहा था। फिर भी मैंने उसी तरह गंभीरता ओढ़े हुए पूछा, "बड़ी मा आपको बैठने को कह गयी थीं तो आप यहां खड़े-खड़े क्या कर रहे थे?"

उसका उत्तर सुनकर पल-भर को मैं खुद भी अचकचा गयी। उसके बुद्धू-बुद्धू से चेहरे पर बेवकूफी की पर्त और गहरी हो आयी। उसने बेहद अचरज-भरे स्वर में सफाई देते हुए कहा, "जरा देख रहा था। मैं ख... ख़बरकागज का आदमी हूं न...देखने लायक चीज पर नजर पड़ते ही ताक-झाक करने की जैसे आदत-सी बन चुकी है मेरा मतलब है बुरी आदत."

अनजाने में ही मेरी आंखें उसके चेहरे पर दुबारा थिर हो गयी।

मैंने कठिन स्वर में सवाल किया, "क्यों, ऐसा देखने लायक क्या था?"

वह दुबारा अचकचा गया। उसने अटक-अटककर जवाब दिया, "जी, वही कसरत...यानी आप जितनी बड़ी लड़की को कभी कसरत-फ़सरत करते देखा नहीं न...इसीलिए..."

यूं उस मक्खन जैसे चिकने चेहरे वाले पुरुष की यह दुर्दशा देखकर ममता होनी चाहिए थी और उसका जवाब सुनकर हंसी रोकने के लिए भाग खड़े होना चाहिए था, लेकिन मुझे उसके प्रति न ममता हुई, न उसकी बातों पर हंसी आयी। बल्कि मेरे मन में एक नया संदेह जाग उठा कि मैं इस आदमी को जितना बेवकूफ समझ रही थी वह सचमुच उतना बेवकूफ है या नहीं। वैसे शक्ल-सूरत से तो वह निरा बेवकूफ नज़र आ रहा था। कोई मर्द अगर इस हद तक गोरा-चिट्टा हो, तो वह निश्चित रूप से बेवकूफ लगता है। लेकिन किसी तरह के मोह या हंसी के बजाय मैं मन-ही-मन अचानक बेतरह क्रुद्ध हो उठी। मेरा आक्रोश शायद दो कारणों से था। उस गन्दे रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद से ही अखबार के नाम तक से मेरी दुश्मनी हो गयी थी। दूसरी वजह से तो वह और भी अधिक असहनीय लगा। जब इस आदमी ने मुझे कसरत करते हुए देखा है, तब तो और भी बहुत कुछ देखा होगा।...आईने के सामने खड़े होकर वक्ष पर साड़ी-ब्लाउज़ की मैचिंग करते हुए, गुच्छे-भर बालों को खींचकर कान के पास लाकर गालों पर सायास झूमर बनाते हुए और होंठों को दांतों तले दबाकर खूबसूरती का निरीक्षण करते हुए...यानी उसने मेरी हर अदा देखी होगी।

मैं कुछेक पलों तक उसकी तरफ़ जलती हुई निगाहों से देखते हुए, उसका चेहरा झुलसती रही। इसके बाद मैं क्या करती या कह बैठती मुझे नहीं मालूम। लेकिन इसी बीच बाधा आ पड़ी।

बड़ी मां सचमुच नाश्ते की प्लेट लिये मेरे कमरे के अंदर दाखिल हुई। मुझे उस आदमी के मुंह-दर-मुंह खड़े देखकर उनकी आंखों में हल्का-सा विस्मय झलक आया। उन्होंने करीब आकर पूछा, "क्यों रे, तू ऐसे मुंह बनाये क्यों खड़ी है? उसे पहचाना नहीं?"

उस आदमी की मानो जान में जान में आयी। उसने उसी तरह बेवकूफ़ाना हंसी बिखेरते हुए, अतिशय अंतरंग लहजे में कहा, "नहीं, मौसी वह मुझे नहीं पहचान सकी। लेकिन मैंने तो इन्हें इत्ती-सी फ्रॉक पहने हुए

देखा था, फिर मैं देखते ही पहचान गया।"

बड़ी मा ने नाश्ते की तश्तरी मेज पर रखते हुए कहा, "अरे...यह अपना वही शुद्ध है रे! सुदीप-प्रदीप के मास्टरजी चन्द्र अधिकारी का बेटा! तुझे याद नहीं? अपने बापू के साथ आया करता था? लेकिन तुझे भी कैसे याद रहता? तू उस समय थी ही कित्ती-सी? उन दिनों तो मास्टरजी के आते ही सबसे पहले तू दौड़ जाती थी और उनकी गोदी दखल करके बैठ जाती थी...सोलह-सतरह साल पुरानी बात है। आज अगर वह खुद अपना परिचय न देता, तो क्या मैं ही उसे पहचान पाती?"

...चन्द्रनाथ अधिकारी!

इस समूचे परिवार के साथ एकमात्र वही नाम परम श्रद्धा से जुड़ा हुआ है! आज जब मुसीबत में पड़ा था, तो इस आदमी के मुंह से भी झटपट उसके पिता का नाम ही निकला था। उस समय अगर उसका मिजाज उतना बिगड़ा हुआ न होता तो यह नाम सुनते ही उसे फौरन याद आ जाता। शायद एक भूला-बिसरा दृश्य भी आंखों के आगे तैर जाता।...खादी की उजली-धुली धोती और फतुही! देह पर खद्दर की चादर—मास्टरजी के आने की आहट पाते ही, मैं दौड़ती-भागती आती थी और उनकी गोद में चढ़कर बैठ जाती। उस समय मैं कुल छह साल की थी। मास्टरजी के साथ कभी-कभी छोटे भइया का ही हमउम्र यानी दस-ग्यारह साल का एक लड़का भी आया करता था। भयंकर उजला रंग! मैं अक्सर मास्टरजी से पूछती थी, "उस लड़के का रंग इतना सफेद क्यों है?"

मास्टरजी हंस देते और भइया लोग मुझ पर बुरी तरह नाराज! मास्टरजी उन्हें पढ़ाई-लिखाई के संबंध में खूब डांट पिलाते थे और मुझे सिर्फ प्यार करते थे। उनकी नाराजगी की असली वजह शायद यही थी।

मझले भइया मौका पाते ही मुझे धमकाते थे, "ठहर जा! तेरी शादी उसी बदसूरत गोरे लड़के के साथ कर दी जायेगी।"

इसी बात को लेकर एक दिन मैं बुरी तरह नाराज हो गयी और बड़ी मा से उनके खिलाफ शिकायत जड़ दी थी। बड़ी मा ने मझले भइया को कसकर डांट पिलायी थी। लेकिन बाद में उन्होंने भी डैडी के सामने मुझे छेड़ते हुए कहा था, "...लेकिन ऐसा गोरा-चिट्टा लड़का, तुझे ही इतना

नापसन्द क्यों है ? जरा सुनूं तो..."

मैंने होंठ विचकाकर कहा, "उफ़ ! ऐसा भयंकर गोरा है कि लगता है छूने से उंगली जल जायेगी।"

मेरी वात सुनकर डैडी के चेहरे पर दवी हुई मुसकान उभर आयी। वड़ी मां ने ज़ोर का ठहाका लगाया। थोड़ी देर वाद उन्होंने वनावटी गुस्से से आंखें तरेरकर पूछा, "क्यों, तूने उसे छूकर देखा है क्या ? उंगली जली या नहीं ?"

मास्टरजी की सबसे अधिक इज़्ज़त शायद डैडी ही करते थे। वह तो वाकायदा भक्ति करते थे। भइया लोग अपनी पढ़ाई पूरी करके फ़ौरन टहलने निकल जाते थे। जितने दिन डैडी जिन्दा थे, मास्टरजी एकमात्र उन्हीं के पास उठते-बैठते थे। मास्टरजी को जव लकवा मार गया तो डैडी सप्ताह में कम-से-कम चार-पांच दिन उन्हें देखने जाया करते थे। मेरे वारे में डैडी ने ही शायद उनसे कुछ कहा था। उस दिन वड़ी मां के सामने उनके लड़के के वारे में मैंने जो कमेंट किया था, उसके दो-तीन दिन वाद ही मास्टरजी ने डैडी के सामने ही मुझे अपनी गोद में खींचकर मज़ाक किया, "देख न, कैसी मुश्किल में पड़ गया हूं ! तुझे मेरा गरोटा वेटा सख्त नापसंद है...और हम लोगों को विलकुल तेरी तरह, थोड़ी-वहुत कल्लो विटिया ही पसंद है।"

वचपन में अगर कोई मुझे कल्लो कहता था तो मुझे वाकायदा गुस्सा चढ़ जाता था।...लेकिन मास्टर साहव या उनके वेटे का रंग जैसा वुर्राक सफ़ेद था, उसकी तुलना में मुझे कल्लो ही कहना उचित था।

मैंने खुश होकर पूछा, "क्यों ? कल्लो क्यों पसंद है ?"

मास्टरजी ने जवाव दिया, "असल में गोरा रंग देखते-देखते सबकी आंखें अघा गयी हैं।"

वाद में डैडी के साथ जव उनके घर गयी थी, तो उनकी वातों का सही-सही अर्थ समझ में आ गया। उनके घर के वच्चे-वच्चे का रंग दूधिया गोरा था। उनका जो वेटा हमारे यहां आया करता था, उसके अन्य तीन वहन-भाइयों को भी देखा। उनकी वीवी को भी देखा था। सव-के-सव ऐसे असहनीय गोरे कि जैसे निगलने को आते हों।

लेकिन इतने सारे स्मृति-मथन के लिए कभी वक्त ही नहीं मिला। उस छह वर्षीय बच्ची और इस तेईस साल की लड़की में सैंकड़ों मील का फर्क है। हां, अगर मुझे सोचने की फुरसत होती, तो हो सकता है डैडी की श्रद्धा-भक्ति की खातिर या फिर और किन्हीं कारणों से मास्टरजी को याद करना अच्छा ही लगता। लेकिन उनके साथ-साथ उनके बेटे को भी याद रखूं, यह मेरे लिए संभव नहीं था। इसके अलावा जो आदमी शुरू-शुरू में ही निहायत बेशर्म और बेवकूफ की तरह ऐसा गर्हित काम कर बैठे और बाद में अपने को बचाने के चक्कर में अपने बाप का परिचय देने लगे, उसके प्रति सौजन्य दिखाने का मेरे मन में रत्तीभर भी आग्रह नहीं था। बड़ी मां के आ जाने पर भरोसा पाकर उसने बेवकूफों की तरह हंसते-हंसते जो बात कही, वह तो और भी असहनीय लगी। उसने कहा, "मुझे पहचानना तो दूर की बात है, मौसी, उल्टे ये मुझसे बुरी तरह नाराज हो गयी हैं।"

बड़ी मां पल-भर को विस्मित निगाहों से मुझे घूरती रहीं, फिर उसी से पूछा, "अरे, इतनी-सी देर में तुमने नाराज करने लायक कौन-सा गुनाह कर डाला?"

उसने बीच के दरवाजे की तरफ इशारा करते हुए अटक-अटककर जवाब दिया, "असल में ये कसरत कर रही थीं, मैंने देख लिया। बात यह है, मौसी, कि मुझे कभी विशेष कुछ देखने का मौका नहीं मिला, सो..."

उफ़! मैं क्या करूं? मारे गुस्से के मेरे दिमाग ने जैसे काम करना बन्द कर दिया था। उसकी बात सुनकर पल-भर को बड़ी मां भी अचकचा गयीं, लेकिन फिर हंस पड़ीं। उसकी सरल स्वीकृति के कारण उनकी निगाहों में उसके अपराध का गुरुत्व मिट गया। उन्होंने कहा, "अरे, तो इसमें क्या हुआ? अभी तो उस दिन तक लोगों की आंखों के सामने ही उछल-कूद, लपटा-झपटी करती फिरती थी। मेरी भी यही राय है—सिल-बट्टे की तरह पड़े रहने के बजाय एकाध बार देह को हिला-डुला लेना अच्छा है—क्यों?"

अच्छा है या बुरा—इसकी परख करने के लिए उस आदमी ने मेरी तरफ दुबारा देखना चाहा, लेकिन साहस के अभाव में इस कार्य को अधूरा

ही संपन्न करके, सरल-सुवोध लड़के की तरह सिर हिलाकर सहमति जता दी यानी सचमुच, अच्छा है।

वड़ी मां ने कहा, "लो, तुम खा लो। दीपू, तू भी वैठ न। उसे किसी दावत में ले जाने को कहकर सुवल ने उसे घर वुला लिया और खुद जाने कहां चम्पत हो गया।"

इतनी देर वाद उस व्यक्ति के हठात्-आगमन का कारण समझ में आया। सुवल 'दा ने ज़िक्र तो किया था कि उस कमवख्त अख़वार के दफ़्तर में उनका एक दोस्त काम करता है। उसे अपनी मुट्ठी में करके, उस अखवार को खुश करने की कोशिश की जायेगी। मैं अंदर-ही-अंदर वुरी तरह ऐंठ गयी। अभी तो उस आदमी से अपनी पहली मुलाकात ही वर्दाश्त नहीं कर पायी थी, उस पर से वह अखवार का आदमी निकला...जो लोग टुच्ची खवरें फैलाकर आदमी को उंगलियों पर नचाते हैं और हमारे काम-धंधे में नुकसान पहुंचाते हैं। सुवल 'दा उसे एकदम से होटल चलने का आमंत्रण क्यों दे वैठे, मुझे समझ में नहीं आ रहा था। हुंहः, जाने कहां के फ़ालतू-छिछले लोग अखवार के दफ़्तर की चाकरी के वदौलत इस किस्म का प्रश्रय पाकर, विलकुल सिर पर चढ़ जाते हैं।

मैंने अपनी खीझ दवाते हुए वड़ी मां से कहा, "मुझे वैठने की फ़ुरसत नहीं है। अभी मुझे भी वाहर जाना है।"

उस आदमी को अनदेखा करते हुए, पार्टीशन की वगल से कतराकर, मैं अपने कमरे में चली आयी। और अधखुले दरवाजे को पूरी तरह वन्द करने के लिए पीछे मुड़ी।...सामने नाश्ते की प्लेट...एक तरफ़ वड़ी मां... लेकिन उस वौड़म वेवकूफ़ आदमी की निर्लज्ज निगाहें एकटक मेरा ही पीछा कर रही थीं। मुझे अपनी ओर देखते हुए पाकर भी, उसे नज़रें झुकाने का होश नहीं आया। मैंने वेहद धीर-गंभीर भाव से उसके मुंह पर ही दरवाज़ा वन्द कर दिया।

...यही वह व्यक्ति है, जिसे पहचानने में मुझे इतने-इतने दिन लगे और जिसके वारे में मैं इतनी-इतनी भूलें करती रही। सिर्फ़ मैं ही नहीं, मेरी तरह शायद वहुतों ने उसे समझने में गलती की थी।

खैर...

अब अपने पारिवारिक-प्रसंग को जरा विस्तार में कह लेना जरूरी हो गया है।

मैं पहले ही बता चुकी हूं, कभी इस घर में बड़े भइया का भी अस्तित्व था। बड़ी मां का बड़ा बेटा! उन्हें मैंने कभी नहीं देखा। मेरे जन्म के बहुत पहले ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी। लेकिन लोगों के दिल में उनकी याद आज तक नहीं मिटी थी। जो मृत्यु आदमी को मृत्युजयी जैसा कुछ बना देती है, इस घर के लोगों के लिए बड़े भइया की मौत भी कुछ उसी किस्म की थी।

उनका नाम सदीप था। हर नाम के साथ 'दीप' शब्द का योग बड़ी मां को शायद बहुत प्रिय था। बड़े भइया सदीप, मझले भइया सुदीप, छोटे भइया प्रदीप और मैं—दीपिका यानी दीपू! ये सारे नाम बड़ी मां के ही दिये हुए थे। खैर, उसी बड़े भइया ने स्कॉलरशिप लेकर कॉलेज में एडमिशन लिया। मास्टर चन्द्रनाथ अधिकारी को अपने तमाम छात्रों में उनसे अधिक प्रिय शायद कोई भी नहीं था। मास्टरजी गांधीजी के परम भक्त थे। कई बार जेल भी हो आये थे। काफी शिक्षित और विद्वान होने के बावजूद उन्होंने किसी ऊंची नौकरी के लिए कभी कोशिश नहीं की। वह एक प्रसिद्ध लेकिन गैर-सरकारी स्कूल में मास्टर-भर बनकर रह गये। उन दिनों उनके सिर पर देश-भक्त लड़के गढ़ने का जैसे नशा सवार था। बड़े भइया उन्हीं के स्कूल में पढ़ते थे और मास्टरजी के प्रति देवतुल्य श्रद्धा-भक्ति करते थे। वही मास्टजी बड़े भइया को घर पर भी नियमित रूप में पढ़ाने आते थे। बड़ी मां का तो अब भी यही खयाल है कि बड़े भइया के स्कॉलरशिप और स्वभाव से उज्ज्वल-रत्न होने के पीछे एकमात्र मास्टर साहब का ही हाथ था।

सन् १६४२ के अगस्त में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' की मंत्र घोषणा की। देश में चारों तरफ जैसे आग धधक उठी। विदेशी-शासन की क्रूरता झेलते हुए समूचा देश खून में नहा उठा।

उन्हीं दिनों की बात है। एक दिन सात हजार लड़कों का जुलूस, सरकारी भृकुटी और निषेध की उपेक्षा करते हुए, धर्मतल्ले की राह

गवर्नमेंट-हाउस की तरफ़ बढ़ रहा था। सरकार के रक्षक-सिपाही भी हाथों में लाठी, बर्छी, भाले और बन्दूक लेकर डट गये। उनकी तरफ़ से रोक-थाम किये जाने पर निहत्थी जनता की विशाल भीड़ रास्ते पर ही धरना देकर बैठ गयी। सामने सशस्त्र अवरोध। इधर लड़कों का गिरोह भी टस से मस होने को राजी नहीं था।

स्कूल के नन्हे-नन्हे बच्चे अपनी जान हथेली पर लेकर धरना दे रहे हैं, यह सूचना मिलते ही मास्टर साहब भी स्थिर नहीं रह सके। वह भी दौड़ते हुए पहुंच गये और जाने क्या सोचकर वह भी उन छात्रों के साथ आसन लगाकर बैठ गये। उस दिन बड़े भइया उसी रास्ते से होकर कहीं जा रहे थे। लेकिन होनी का चक्कर कुछ और था इसीलिए इतने सारे लड़कों की भीड़ में भी उन्होंने मास्टर साहब को देख लिया। उन्होंने पास जाकर उनके वहां होने की वजह पूछी।

मास्टर साहब ने हंसकर जवाब दिया, "तू देख ही रहा है कि क्यों बैठा हूं। लेकिन भई, तू ठहरा शरीफ़ लड़का। तू यहां क्यों आया है? आजपढ़ाई-लिखाई जल्दी निपट गयी इसलिए यहां मजा देखने आया है?"

बड़े भइया उन दिनों स्कूल से निकलकर कॉलिज जाने लगे थे। मास्टर साहब की मीठी बातों के भीतर जो व्यंग्य था, वह उन्हें चुभ गया।

मास्टर साहब ने दुबारा आग्रह किया, "देख, अगर डर लग रहा हो तो भाग जा, वरना तू भी बैठ जा।"

मानो नियति उन्हें पुकार रही थी। बड़े भइया भी मास्टर साहब की बगल में जा बैठे।

शाम होते न होते विरोधी सिपाहियों का धीरज छूटने लगा। आदेश मिलते ही उन्होंने लाठी और भालों की बौछार कर दी और उसके बाद गोलियां। निहत्थी जनता भी पागलों की तरह आगे बढ़ने की कोशिश कर रही थी। एक-एक करके बहुत-से लड़कों के हाथ-पांव और सिर टूटे। बहुतों का शरीर खून से लथ-पथ होकर धरती पर लोट गया।

सामने ही एक सार्जेन्ट बारह-तेरह साल के एक नन्हे बच्चे को लाठियों की मार से अधमरा करके उसे मौत की नींद ही सुलाने जा रहा था कि बड़े भइया भी दिशाहारा की तरह दौड़ पड़े और उसके हाथ से

लाठी छीनने की कोशिश करने लगे। इसी बीच मास्टर साहब छिटककर कहीं दूर जा पड़े। उन्हें भी कोई होश नहीं रहा। बड़े भइया के पेट में गोली लगी थी। गोली खाकर भी उन्होंने एक बार तनकर खड़े होने की कोशिश की थी। उनकी निगाहें शायद मास्टर साहब को ही खोज रही थीं। उसके बाद वे धरती पर लोट गये थे। यूं तो वहां बहुतों ने प्राण दिये थे और किसी के भी प्राणों की कीमत कम नहीं थी। लेकिन सुना है, स्कॉलरशिप पाने वाले छात्र की वजह से या चाहे किसी और वजह से बड़े भइया की मौत ने जबरदस्त तहलका मचा दिया। देश के बहुत से नेताओं और हजारों लोगों की भीड़ एकत्रित हुई थी। शोक-सभा हुई थी और उनकी लाश उठाकर घर लायी गयी थी।

उन्होंने बड़ी मां से कहा था, "मां, तुम्हारा एक बेटा अपनी जान देकर, हम सबको तुम्हारा बेटा बना गया है। मां, तुम अपने एक बेटे के लिए रोओगी या इतने सारे बेटों को पाकर हंसोगी ?"

बड़ी मां अवाक् रह गयी ! ऐसी महान् मृत्यु शायद ही किसी की होती है !

दाह-संस्कार के बाद मास्टर साहब श्मशान से सीधे इस घर में आये थे।

बुझा-बुझा-सा चेहरा ! दो तल्ले चढ़कर सीधे मां के सामने आकर खड़े हो गये। उन्होंने बाबू और जेठू के सामने ही कहा, "मां, तुम्हारे बेटे की मौत के लिए मैं ही जिम्मेदार हूं। मुझे जो चाहे सजा दो, मैं सिर झुकाकर स्वीकार करूंगा।" उनकी बड़े भइया से क्या बातचीत हुई थी और क्यों वे निहत्थी, विद्रोही जनता की भीड़ में शामिल हो गये थे—उन्होंने यह भी नहीं छिपाया।

जेठू और बाबू स्तब्ध रह गये। बड़ी मां पत्थर की मूर्ति बनी खड़ी थीं। धीरे-धीरे उस पत्थर की मूर्ति में मानो प्राण-संचार होने लगा। उम्र में मास्टर साहब बड़ी मां से शायद कुछ बड़े ही थे।

बड़ी मां एक-एक पग नापती हुई मास्टर साहब के करीब आ खड़ी हुईं और फिर उनके पैरों पर लोट गयीं।

उस वक्त पहली बार मास्टर साहब, बाबू और जेठू के गालों

सौंप दिया। हाथों में सोना-मढ़े दो-दो शांखा के अतिरिक्त बाकी सब कुछ उतारकर दे दिया।

उन्होंने बाबू के सामने अक्खड़ता से कहा था, "शानू तुम लोगों की गुलामी की जंजीर तोड़ गया है। अभाव की मार खाकर तुम लोग क्या उसे कुचल डालना चाहते हो? तब तो मुझे इन गहनों से कलसी-डोरी ही खरीदनी होगी।"

बड़ी मां के बैंक और गहनों के रुपयों से यह बिजनेस शुरू किया गया।

इस धन्धे से धीरे-धीरे अपने भी दिन लौट आये। इस बिजनेस के चल निकलने के पीछे भी बहुत-कुछ बड़े भइया का ही हाथ था। उन दिनों बहुत से व्यापारी भी चोरी-छिपे कांग्रेस-दल में शामिल थे। उन्होंने भी जरूरत पड़ने पर रुपये दिये। बड़े भइया की मौत की वजह से यहां के नेताओं से पहले से ही दोस्ती थी अतः उनका भी पूरा सहयोग मिला। उन लोगों ने ही हमारे लिए विज्ञापन जुटा दिये।

उस घटना के बहुत दिनों बाद तक मास्टर साहब की कोई खबर नहीं मिली। लेकिन बड़ी मां उनकी पूरी खोज-खबर रखती थी। मझले भइया और छोटे भइया के स्कूल में भर्ती होते ही, उन्होंने बाबू से कहकर मास्टर साहब को बुला भेजा। उन दिनों मेरे जेठू की भी मृत्यु हो चुकी थी। और मेरी मां तो उनके बहुत पहले ही चल बसी थी।

मास्टर साहब के आते ही बड़ी मां ने कहा, "सुदीप और प्रदीप की पढ़ाई-लिखाई की जिम्मेदारी आपके अलावा और कौन ले सकता है?"

मास्टर साहब थोड़ी देर को चुप रहे। अचानक उन्होंने पूछा, "आप अब इन लोगों को भी मेरे हाथ सौंप रही हैं? आपको यह सलाह भला किसने दी?"

बड़ी मां ने दीवार पर लटकती हुई बड़े भइया की तसवीर की ओर इशारा करते हुए कहा, "उसी ने दी है। इधर वह कई दिनों से मुझसे कह रहा है।"

मास्टर साहब इसके बाद एक शब्द भी नहीं बोले थे। उस दिन वे चुपचाप उठकर चले गये थे लेकिन अगले दिन हांक-पुकार मचाते हुए आ

पहुंचे और मंझले और छोटे भइया को पढ़ाने बैठ गये।

अपने बचपन के बारे में जहां तक मुझे याद आता है, बाबू ही क्यों, बड़ी मां को भी कभी किसी के प्रति इतनी अगाध श्रद्धा-भक्ति करते नहीं देखा। दुर्गा-पूजा और नये वर्ष के उपलक्ष्य में मास्टर साहब के सामने रुपये और कपड़े रखकर बड़ी मां को उनके चरणों में झुककर प्रणाम करते हुए भी देखा है। उसके बाद उन्हें लकवा मारने की खबर पाकर वे बाबू के साथ जाने कितनी बार टोकरी-टोकरी-भर फल लेकर उन्हें देखने जाया करती थीं। चन्द्रनाथ बाबू की मृत्यु के बाद वह रिश्ता करीब-करीब टूट ही गया।

दहलीज पार करके गाड़ी आगे बढ़ी ही थी कि उस आदमी का उत्साहित कंठ चहक उठा, "अरे, रुकिये तो, जरा रुक जाइये..."

मुझे कुछ समझ में नहीं आया। मैंने ब्रेक लगाया। सामने से यज्ञेश्वर तिवारी आ रहा था। यज्ञेश्वर को देखते ही शुद्ध अधिकारी ने हंसते हुए खिड़की से सिर निकालकर बड़े दोस्ताना लहजे में पूछा, "तुम यज्ञेश्वर हो न ?"

यज्ञेश्वर बाबू और जेठू के जमाने का पुराना आदमी था, अतः इस घर में उसकी एक खास जगह थी! लेकिन यह बात सिर्फ़ घर के लोगों तक ही सीमित थी। मौका मिलते ही वह घरवालों को भी दो-एक सदुपदेश देने से नहीं चूकता था।

कुछ दिनों पहले उसकी दूसरे नम्बर की बीवी भी भगवान को प्यारी हो गयी थी, सो इन दिनों उसका मन-मिजाज भी ठिकाने नहीं रहता था। इसके अलावा बेटे की ब्याह-शादी करके गृहस्थ बन बैठे थे और उसकी खास परवाह नहीं करते थे, अतः वह मन-ही-मन उनसे भी क्षुब्ध रहता था। इन्हीं कारणों से उसे बड़ी मां की भी शह मिली हुई थी। अतः इन दिनों उसकी सिर पड़कर बातचीत करने की आदत भी जरा बढ़ गयी थी।

पिछले दिन मंझले भइया के बुरी तरह डांटने- फटकारने पर उसने मेरे आगे मातमी सूरत बनाकर फरियाद की थी कि लगता है अब इस घर का नमक उसके नसीब में कोई नहीं है। अगर मां-मणि उसे छोड़ दें तो

वह अपनी इज्जत लेकर कहीं और चला जाये।

वैसे मैं भी उसे विशेष पसंद नहीं करती थी! वह ऐसा मुंहफट था कि मुंह पर ही सुनाया करता था कि इस जमाने की लड़कियों का चाल-चलन उसे खास पसंद नहीं है। हां, वैसे मेरे अलावा इस जमाने की कोई दूसरी लड़की उसने देखी भी नहीं थी। खैर, मैं बचपन में उसकी पीठ पर चढ़कर घूमा करती थी, अतः उसका मेरे प्रति सिर्फ स्नेह ही नहीं था, मेरे भले-बुरे के बारे में सोचना-विचारना भी वह अपना हक समझता था।

लेकिन उसे देखकर किसी बाहरी व्यक्ति का यह अन्तरंग उच्छ्वास उसके लिए भी नया था।

वह विस्मय से गद्‌गद् होकर जरा और करीब चला आया और सिर हिलाने लगा यानी हां, वही यज्ञेश्वर है!

"देखा, मैंने तुम्हें देखते ही पहचान लिया! लेकिन तुम मुझे नहीं पहचान सके न? अरे, मैं तुम्हारे वही मास्टर साहब का बेटा हूं! भई, क्यों? अब याद आया?"

"हां, याद आ गया।" यज्ञेश्वर के लम्बे-चौड़े चेहरे पर कई पर्त विस्मय और आनन्द की छाया थी। अचानक उसकी जुबान से निकला, "अरे, तुम वही राणा-मुन्ना हो न? तुम इतने बड़े होय गये?"

उफ! किसी जरूरी काम से बाहर जा रहे हैं, बीच में गाड़ी रोककर यह अन्तरंगता का आदान-प्रदान, मुझे जहर लग रहा था। मैंने संकेत की अपेक्षा किये बिना ही गाड़ी स्टार्ट कर दी। मुझे उस वक्त ऐसा भयंकर क्रोध आ रहा था कि उसे इस वक्त भी राणा-मुन्ना कहकर मुंह चिढ़ाने का मन हो आया। पार्टी के बाद, उसी होटल में हमारे काम-धन्धे की भी बातचीत होने वाली थी, वहां भला राणा-मुन्ना को क्यों आमन्त्रित किया गया। मुकुल 'दा से इसकी कैफियत मांगने को बेताब हो उठी। लेकिन मौका ही नहीं मिला। मुकुल 'दा और भइया बिलकुल अन्त में ही पहुंचे। हालांकि उस वक्त मुकुल 'दा मेरी बगल में ही बैठे थे, लेकिन इस वक्त हमारी बातचीत पीछे वाले लोग भी सुन सकते थे। इसके अलावा वे तो गरदन घुमाकर अपने कॉलेज के किस्सों में मस्त हो रहे थे।

मझले भइया को कहानी सुनायी जा रही थी... यह लड़का छोटे-बड़े

सवसे जाने किन-किन वातों पर डांट-फटकार सुना करता था। लड़कियां तक उसका मजाक उड़ाया करती थीं।...एक वार तो एक लड़के ने किसी लड़की के नाम से प्रेम-पत्र लिख डाला। इस कमवख्त को अजीव फसाद में फंसा गया। शुद्ध अधिकारी साहव वह खत लिये-लिये उस लड़की के वाप के सामने जाकर खड़े हो गये। सीधे-सीधे व्याह का प्रस्ताव कर डाला। घर के लोगों की तो वात ही छोड़ो, खुद वह लड़की भी उसे मारने-पीटने पर उतारू हो गयी।

सुवल 'दा धाराप्रवाह वोलते जा रहे थे—'वेइज्जत होने के लिए यह शुद्ध जैसे खुद ही मौका ढूंढता फिरता था।...और कॉलेज में एक वार वंगला की परीक्षा में क्या कांड कर आया था। वंगला की परीक्षा में चूंकि प्रश्न-पत्र अंग्रेजी में आये थे, अतः यह वेवकूफ़ उनका उत्तर भी अंग्रेजी में लिख आया। अंग्रेजी अक्षरों में वंगला जवाव। 'रवीन्द्र काव्येर' का मतलव था रवीन्द्र-काव्य। 'अन्तरलोके' का अर्थ हुआ अन्तरलोक में! 'प्रकाश कोरले' यानी प्रवेश करने पर। शुरू से लेकर अन्त तक इसी तरह लिख आया। नतीजा यह हुआ कि कॉपी पर वड़ा-सा रसगुल्ला विठाकर भी प्रोफेसर साहव का गुस्सा नहीं उतरा।

उन्होंने क्लास में घुसते ही तमतमाये हुए लहजे में पूछा, "परीक्षा की कॉपी पर इस किस्म की शरारत करने का क्या मतलव है?"

शुद्ध उनके चेहरे की तरफ़ मुंह वाए हुए देखता रहा, फिर उसने धीरे से जवाव दिया कि वंगला का प्रश्न-पत्र अंग्रेजी में देखकर उसने समझा उत्तर भी अंग्रेजी में ही देना होगा।

प्रोफेसर साहव ने गुस्से से लाल होकर कहा, "ठीक है, अव जितना चाहो नम्वर भी वैठा लो। लेकिन हां, नम्वर उस रसगुल्ले के अन्दर ही वैठाना, वाहर नहीं।"

सचमुच हंसने वाली ही वात थी। लेकिन फिर भी मुझे हंसी नहीं आ रही थी। मुझे लगा, इस किस्म की हंसी-दिल्लगी और पुरानी यादों को कुरेदने के पीछे, कहीं से वे अपने इस अखवारी मित्र की चापलूसी करने में भी लगे हुए थे। वह शख्स छोटे भइया की उम्र का लग रहा था, यानी सुवल 'दा से भी छोटा ही होगा। सुवल 'दा अगर कुछेक वार फेल न

मारते तो इसके सहपाठी होने लायक तो नहीं थे। मैंने सामने के शीशे में पिछली सीट पर बैठे उस व्यक्ति को एक बार गौर से देखा। अपनी करतूतों पर बुढ्ढों की-सी हंसी हंसता हुआ शरारती चेहरा! लेकिन अजीब बात है! उसकी भी दोनों आंखें मेरी ही तरफ लगी थीं।

होटल की तड़क-भड़क में आमन्त्रित सज्जनों के बीच एक जोड़ी आंखें मुझे सबसे अधिक असहनीय लगी थीं। शायद ऐसे माहौल में उसने पहली बार कदम रखा था। मुकुल 'दा ने उससे परिचय कराते हुए बताया था कि वह किसी अखबार का बहुत बड़ा रिपोर्टर है और उस क्षण से वह आदमी मानो किसी शहंशाह का दामाद बन बैठा था। आमन्त्रित सज्जनों ने उससे मिलकर खुशी जाहिर की लेकिन वह बदले में सयमित अन्तरंगता दिखाने के लिए हाथ बढ़ाना तो दूर की बात थी, उसने हाथ उठाकर नमस्ते भी नहीं किया। बस, सिर्फ सिर हिलाकर उन्हें कृतार्थ करने में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ बैठा था।

उसके बाद भी, पूरे समय में उसने अपनी तरफ से कोई बात करने की कोशिश नहीं की। वैसे भी ऐसे मशहूरो-मारूफ़ विदेशी होटल में, यही एक ऐसा व्यक्ति था, जो धोती पहनकर आया था। इसे भी लोग उसकी खासियत समझेंगे इसीलिए वह जान-बूझकर धोती-कुर्ता चढ़ाकर आया था, वरना कहां जाने के लिए निमन्त्रित किया जा रहा है, यह जाने बिना तो वह आने से रहा। मुझे उसके धोती-कुर्ते से कोई दुश्मनी नहीं थी, लेकिन ऐसे माहौल में वह धोती-कुर्तेवाला एकमात्र व्यक्ति था और बेहद उजबक लग रहा था।

खातिर-तवज्जोह के बहाने बिज़नेस की बातचीत भी शुरू हुई। अभ्यागत अतिथियों का व्यापार दिनों-दिन आसमान छूने लगा है, उसके पीछे हमारे विज्ञापन-कम्पनी के सार्थक प्रयासों का प्रसंग छेड़कर, विज्ञापन का क्षेत्र ज़रा बढ़ा देने की फरमाइश पेश की गयी। उन लोगों की समस्या, उनकी सुविधा-असुविधा का रोना भी सुना, हमने अपनी समस्या और सुविधाएं-असुविधाएं भी समझाकर बतायीं।

इस कहने-सुनने के दौरान, जितनी भी बार मैं आदतन अपने लहराते

हुए बालों को खींचकर कान तक ले गयी, जितनी भी बार दांतों तले होंठों को दबाया, उतनी ही बार मैं कुछ सजग भी थी, उतनी बार मेरी आंखें अपने-आप ही उस आदमी के चेहरे की तरफ घूम गयीं। शुद्ध अधिकारी अपनी डबर-डबर आंखों से हमारी बातें भी निगल रहा था और मेरे हाव-भाव भी। सामने ही अच्छे-अच्छे खानों की अनगिनत प्लेटें सजी हुई थीं; लेकिन उनकी तरफ न उसकी दृष्टि थी, न मन !

सुबल 'दा ने उसे दो-एक बार आगाह भी किया, "क्यों, तू कुछ खा नहीं रहा है ?"

उत्तर में उसने एक प्लेट में खाने की कुछ चीजें डाल लीं और उंगली से उन्हें बिदोरता रहा। थोड़ी देर बाद, उसने खुद ही कहा, "असल में यहां आने से पहले, मौसी ने ढेर-सारा खिलाकर भेजा था।"

करीब दो घंटे बाद जब हम होटल से बाहर निकले, तब अकेली मैं ही थी, जो अन्दर-ही-अन्दर जली-भुनी जा रही थी। मुझे याद नहीं पड़ता कभी किसी मर्द की दृष्टि या ध्यान ने मुझमें किसी तरह की उत्सुकता जगायी हो; लेकिन आज पूरे दो घंटे एक अजीब नाटकीय स्थिति में बिताना पड़ा था, अतः अन्दर-ही-अन्दर मैं गुस्से से सुलग रही थी। पार्टीशन के उस पार से गरदन उचकाकर उसका दरवाज़े की फांक से चोरी-चोरी अन्दर झांकना और आईने के सामने खड़े-खड़े मेरी विन्यास-पूर्ण साज-सज्जा निहारने का अपराध, जैसे मैं किसी तरह भी माफ़ नहीं कर पा रही थी। उसी अपराध की वजह से यहां घंटे-दो घंटे की सहजता भी नष्ट हो गयी थी।

लेकिन होटल की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए वही शख्स जो गुस्ताखी कर बैठा, उसे उसका दुस्साहस समझूं या उस पर अचरज करूं, यह भी समझ में नहीं आया। शायद मेरे मन में आग भी लग गयी थी और हैरानी भी हुई थी। उस वक्त शाम ढल चुकी थी। मेहमान लोग निश्चित समय पर पहुंचे थे, अतः उनकी गाड़ियों को दस-बारह गाड़ियों के बाद जगह मिली थी। हम लोग उचित समय पर या शायद कुछ आगे ही पहुंच गए थे, अतः हमारी गाड़ी होटल के बिलकुल नीचे खड़ी थी।

मैंने हंसकर मेहमानों से विदा ली और अपनी गाड़ी में आकर बैठ

गयी। यह बताना फिजूल है कि मैं ड्राइविंग-सीट पर बैठी थी। भइया और मुवल 'दा सौजन्यतावश मेहमानों से बातें करते हुए उनकी गाड़ी की तरफ बढ़ गये। मालूम है, अगर मैं भी साथ होती तो मेहमानों को और अधिक खुशी होती, लेकिन अकसर मैं ऐसी खुशी से सबको निर्वासित कर देती हूं। अगर ऐसा न करूं तो लड़कियों के आत्मसम्मान का कतई रौब नहीं पड़ता।

मंझले भइया और मुवल 'दा को फौरन लौट आना चाहिए था। लेकिन शायद उनकी बातचीत खत्म नहीं हुई, अतः उन्हें लौटने में दो-तीन मिनट की देर हो गयी। वह बेशर्म आदमी इस ज़रा-से मौके का फायदा उठाने का लोभ भी नहीं छोड़ पाया। वह धीरे-धीरे गाड़ी की तरफ आया। अभी वह पूरी तरह संकोच-मुक्त नहीं हो पाया था, अतः उसने पहले गाड़ी के दरवाजे पर हाथ रखा, उसके बाद सिर झुकाकर खिड़की में से झांका।

मैंने बेहद ठंडे लेकिन गम्भीर भाव से उसकी तरफ घूरकर देखा।

उसने मेरी नाखुश दृष्टि पहचान ली थी, अतः उसने हकलाते हुए पूछा, "यहीं यानी मैं सामने ही बैठ जाऊं? क्यों, क्या खयाल है?"

माथे में बुद्धि कम है, अगर यह बात साफ-साफ समझ में आ जाए, तो आदमी के मुंह पर ही कोई रूढ़ प्रहार करने में आसानी होती है। मैंने उसकी आंखों में झांकते हुए बेहद ठंडा-सा प्रश्न किया, "क्यों?"

उसने खिसियाकर बच्चों की तरह उत्तर दिया, "वे लोग तो वहां बातचीत में लगे हैं। मैं मुंह सीए हुए पीछे बैठा रहूं?"

मेरी जलती हुई आंखों ने उसके बुर्राक गोरे चेहरे को झुलस दिया। मैंने तटस्थ आवाज़ में कहा, "वे लोग अभी आ जाएंगे।"

उसने मेरी बात खत्म होते-न-होते ईषत् व्यस्तता दिखाते हुए, गाड़ी का दरवाज़ा खोलकर मेरी बगल में बैठते हुए कहा, "तब तो पहले से ही यहां बैठ जाऊं, वरना मुवल 'दा तो आते ही यह जगह हथिया लेंगे।"

पहले से ही जगह दखल कर लेने की खुशी में उसने मेरी तरफ घूमकर हंसना चाहा, लेकिन ठिठक गया। उसने थूक निगलते हुए कैफियत दी, "व—बात यह है, यहां बैठना मुझे अच्छा लगेगा।"

मैं उसका साहस देखकर अवाक् रह गयी। लेकिन अचानक यह उसका दुस्साहस जान पड़ा। अतः मेरा पारा चढ़ गया। इस बीच पल-भर के लिए भी मैंने उसके दूधिया-गोरे चेहरे पर से निगाहें नहीं हटायीं।

"...और अगर मुझे यह अच्छा न लगे तो ?"

"...खैर, आपको तो हरगिज अच्छा नहीं लगेगा! आप जब सिर्फ़ छह साल की थीं और मैं ग्यारह का! मैंने सुना है, तभी से आपको मैं नहीं सुहाता था।"

जैसे घने-कजरारे बादलों के दरार से धूप झकमका उठती है, उसी तरह मेरे तमतमाए हुए चेहरे पर भी कौतुक झलक उठा। मैंने पूछा—

"तो..."

"मतलब ?'

"मुझे आप पसन्द नहीं हैं, यह जान-बूझकर भी यहां बैठने की चाह क्यों है ?" हालांकि मैं कहने जा रही थी, "यहां बैठने का साहस कैसे हुआ ?" लेकिन इतनी रुक्षता सभ्यता के खिलाफ़ जान पड़ी। उस आदमी में अगर जरा भी अक्ल होती तो इतनी मामूली-सी जान-पहचान में इतना कुछ बोलना भी नामुमकिन था।

लेकिन इस अपमान का उत्तर भी उसने हंसते-हंसते ही दे डाला, "असल में हम लोगों की...यानी अखबारवालों की यह आम आदत है कि हमें जो अच्छा लगता है, हम बस वही कर गुजरते हैं, दूसरों को अच्छा लगेगा या बुरा, इस बात में सिर नहीं खपाते। आप तो जानती ही हैं, अधिकतर जगहों में लोग हमारी खासी इज्जत करते हैं।"

मेरे चेहरे पर कौतुक की जो रेखाएं उभरी थीं, वे पल-भर में विलीन हो गयीं। वह शख्स जितनी बेवकूफाना बातें कर रहा था, वह सचमुच ही उतना बेवकूफ है या नहीं, मुझे शक होने लगा। लेकिन कड़ी-से-कड़ी बात भी बेहद सहज भाव से कहने का आर्ट मुझे भी आता था। मैंने पूछा, "क्यों, अखबार के दफ़्तर में काम करने से सिर पर दो सींग निकल आते हैं ?'

उसने हंसते हुए सिर हिलाकर कहा, "जरा-सा नाम-डाक हो जाये तो जिस भारी-भरकम वस्तु की आमदनी होती है, सीधी-सादी भाषा में उसे 'पूंछ' कहते हैं। काश कि आप इस चीज की महिमा जान पातीं।

देखिये न, हमारे अखबार में आप लोगों के नाम जाने क्या खबर छपी थी; सुबल 'दा ने फौरन कहीं से खोज-खबर कर मुझसे जान-पहचान निकाल ली और बड़े प्यार से एकबारगी आप लोगों की पार्टी में खींच लाये। अब आप ही देखिये, कितनी कद्र है इस अतिरिक्त वस्तु की ?"

ना। इस आदमी को बुद्धिमान हर्गिज नहीं कहा जा सकता। कोई वज्रमूर्ख आदमी किसी मामूली सहारे के दम पर खासा बुद्धिमान, अहंकारी और दुस्साहसी दीखने की कोशिश में जैसा दीखता है, वह भी वैसा ही लगता है ! इतना कुछ जानने-समझने के बाद मेरे धीरज का बांध जैसे टूटता हुआ जान पड़ा।

मैं सख्त आवाज में पूछने ही जा रही थी कि उसे किसी ऐसे व्यक्ति की खबर है या नहीं जो इस अतिरिक्त वस्तु के अहंकार को काट-छांट भी सकता है ? लेकिन मौका ही नहीं मिला। मेहमानों को विदा करके मझले भइया और सुबल 'दा लौट आये। सामने की तरफ एक निगाह डालकर सुबल 'दा ने मेरी बगल वाले व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा, "क्यों रे, तू तो बड़े मजे में यहां जम गया है ?"

शुद्ध अधिकारी ने मगन भाव से सिर हिलाकर कहा, "हां...तुम देर से जो पहुंचे ! तुम्हारी जगह जब्त !" सुबल 'दा ने पिछली सीट पर बैठते हुए उसांस भरकर कहा, "अरे भइय, मेरे लिए दुनिया में कहीं भी जगह नहीं है।"

मैं सोच रही थी मझले भइया को गाड़ी चलाने को कहकर मैं पिछली सीट पर चली जाऊं। लेकिन मैंने देखा मझले भइया गाड़ी में बैठने के बजाय कुछ सोचते हुए बाहर ही खड़े थे।

मुझसे नजर मिलते ही उन्होंने कहा, "मैं सोच रहा था, तुमसे लिफ्ट माग लूं या टैक्सी पकड़ लूं ससुरजी ने फोन किया था। आज एक बार उनके पास जाना है।"

कमाल है ! साथ में अगर कोई तीसरा व्यक्ति न होता तो सुबल 'दा मझले भइया की इस श्वसुर-भक्ति को लेकर निस्सदेह कोई हल्का-सा मज़ाक कर बैठते। शायद उनके एटर्नी श्वसुर भी अपने दामाद और छोटे भइया को छोड़कर इस घर के और किसी व्यक्ति को भली नजर से

नहीं देखते थे।

मैंने कहा, "आओ, बैठो तो सही, मैं उतार दूंगी। लेकिन वहां हमें अगर किसी ने देख भी लिया तो, हमसे उतरने के लिए न कहना।"

मंझले भइया गाड़ी में बैठ गये। मैंने काफ़ी बिगड़े मूड में गाड़ी स्टार्ट की। पीछे सुबल 'दा और मंझले भइया में व्यापारियों से हुई बातचीत के परिणाम को लेकर हल्की-फुल्की आलोचना शुरू हो गयी। सुबल'दा ने मेरी तरफ़ देखते हुए सवाल उछाला, "लगता है इस साल उन लोगों का आर्डर कुछ और बढ़ जायेगा। क्यों?"

मैं कोई जवाब न देकर, उसी तरह गाड़ी चलाती रही। मैं महसूस कर रही थी, मेरे बगल वाले व्यक्ति की निगाहें रह-रहकर मेरे चेहरे पर ही टिक जाती थीं।

थोड़ी देर बाद सुबल 'दा की आवाज़ दुबारा सुनायी दी, "आज पार्टी में जो लोग आये थे, उनसे भी तेरे बारे में बातचीत हो रही थी, शुद्ध। तू इतने बड़े अखबार में नौकरी करता है, यह सुनकर वे लोग जानना चाहते थे कि तेरे वाणिज्य विभाग से उन लोगों के प्रोडक्ट पर एकाध लेख-वेख नहीं छपाया जा सकता?"

उधर से भी भारी-भरकम जवाब मिला, "हां, छपाया जा सकता है। उनसे कहो, अपनी-अपनी गांठ से यही कोई दसेक हज़ार रुपये ढीले कर दें।"

सुबल 'दा की आंखें फैली रह गयीं, "यह तू क्या कह रहा है? रुपये लगेंगे? वह भी इ-त-ने?"

"यूं ही विज्ञापन का दर है सत्ताईस रुपये प्रति इंच। अगर अखबार के द्वारा अनुमोदित लेख लिखना हो, तो कम-से-कम इसके दस गुने रुपये लगेंगे। शायद उतने में भी पूरा नहीं पड़ेगा।"

"रहने दे, बाबा, रहने दे! शुक्र है तूने उन लोगों के सामने अपना मुंह नहीं खोला। वे लोग सुनते तो बेहोश हो जाते।"

मैंने सामने की तरफ़ नज़रें गड़ाए हुए कहा, "ख़ैर, उनके सामने न सही, हमारे सामने तो जुबान खुली। मैं भी प्रायः बेहोश हुई जा रही हूं।"

मैंने बगल की तरफ निगाह डाली। वह व्यक्ति मंद-मंद मुसकरा रहा था मानो उसकी किसी बहादुरी का बखान किया जा रहा हो।

पीछे से मुबल' दा ने सवाल किया, "क्यों, तुझसे इसने क्या कहा ?"

"अखबार के दफ्तर में काम करने वालों की खातिर-तवज्जोह के बारे में! इनके अखबार में हमारे बारे में जाने कौन-सी रिपोर्ट छपी थी, इसी लिए हम लोगों ने इनकी चापलूसी करने को इन्हें आमंत्रित किया है।"

मैंने गाड़ी में लगे कांच से पीछे की तरफ देखा। मुबल दा और मझले भइया के चेहरे पर विस्मय की रेखाएं थीं।

शुद्ध अधिकारी ने पीछे मुड़कर विगलित भाव से देखते हुए कहा, "देखा न, मुबल 'दा, आदमी गुस्से में हो तो कौन-सी बात का क्या अर्थ निकाल लेता है। जब तक तुम पूर्वापर सदर्भ नहीं सुनोगे, तुम्हें लगेगा मैंने शायद सचमुच ही गधे की तरह ये बातें कही होंगी। दरअसल इन्होंने मुझे मधुर शब्दों में वदर कहा मानो ये जानना चाहती थीं कि अखबारवालों के सिर पर कुछ अतिरिक्त सींग निकल आते हैं या नहीं, और उसके जवाब में मैं भी उस अतिरिक्त वस्तु की महिमा-गायन करते हुए, उदाहरण के तौर पर यह बात कह गया। मैं चाहता था कि हमारी आपस की नोक-झोंक जरा जोरदार तरीके से जम उठे।"

उसका दुस्साहस देखकर मेरे धीरज का बांध टूट गया। मेरे पैरों के दबाव से जाने कब गाड़ी की स्पीड तेज हो उठी थी। मैंने गाड़ी की रफ्तार सायास धीमी की। अगर मैं उस आदमी को अपनी गाड़ी से उतार देती तो शायद उसे उचित सबक मिल जाता।

मुबल 'दा ने चकित होकर सवाल किया, "लो, देखो इनकी करतूत! तो ये सब बातें भी हो चुकी? क्यों, तुम लोगों से पहले से जान-पहचान तो नहीं थी ?"

मझले भइया ने जवाब दिया, "मैंने तुमको बताया तो था कि जनाब हमारे मास्टर साहब के सुपुत्र हैं।"

शुद्ध अधिकारी ने मझले भइया की तरफ पलटकर देखा और हाथ जोड़कर खुशामदी आवाज में कहा, "अपने छोटे भाई से 'आप' कहकर बात न करें, भाई साहब!"

सुबल 'दा ने पहले वाले प्रसंग को खींचते हुए आश्चर्य प्रकट किया, ''मास्टर साहब के सुपुत्र हैं, यह तो मुझे भी मालूम है, लेकिन इन दोनों की आपस में इतनी खातिर कब हो गयी कि नोंक-झोंक का ड्रामा भी होने लगा ? क्यों, इससे भी तेरा कोई रिश्ता-विश्ता था ?''

मेरे दोनों हाथ स्टीयरिंग पर ही थे, आंखें सामने सड़क पर लगी हुई थीं । इतने गुस्से और खीज में मैंने क़भी गाड़ी नहीं चलायी थी ।

मेरी बगल से एक रसीला जवाब गूंज उठा, ''हां, था क्यों नहीं ? हमारा रिश्ता तो सतरह साल पुराना है । मेरे बापू जब भइया लोगों को पढ़ाने जाते थे, तो ये जनाब उनकी गोद में जमकर बैठ जाती थीं और मुझे जो-सो सुनाया करती थीं ।''

पिछली सीट पर दोनों व्यक्तियों ने जोर से ठहाका लगाया, मैंने गरदन घुमाकर पल-भर के लिए उस आदमी की तरफ़ दुबारा घूरकर देखा ।

और बस, उसी मुहूर्त दुर्घटना हो गयी ।

उफ़ ! अभागे रिक्शावाले को मरने के लिए जैसे और कोई जगह ही नहीं मिली । शुक्र है, मोड़ पर होने की वजह से गाड़ी की स्पीड अधिक तेज नहीं थी । मोड़ के उस छोर पर कोई ग्राहक देखकर शायद उसने दौड़ लगायी थी। मैंने जी-जान से ब्रेक दबाया, लेकिन फिर भी ज़रा-सा धक्का लग ही गया । शायद-उसे हल्की-सी खरोंच-भर लगी थी । लेकिन वह आदमी नर्वस होकर गिर पड़ा और बेहोश हो गया ।

चारों तरफ़ शोर मच गया । हम लोग विमूढ़ की तरह गाड़ी से नीचे उतरे । मंझले और छोटे भइया ने उस आदमी को उठाने की कोशिश क और दो-चार अन्य लोगों ने उसे धर-पकड़कर फुटपाथ पर लाकर लि दिया । मैं सकते में आ गयी । मेरी समझ मे नहीं आ रहा था कि व आदमी आखिर बेहोश कैसे हो गया, क्योंकि थोड़ा-बहुत जो धक्का ल था, वह उसके बदन को नहीं, रिक्शा को लगा था ।

ज़रा-सा मौका मिलते ही शुद्ध अधिकारी ने सदय भाव से आश्वा दिया : ''बिचारा आधा पेट खाने वाला आदमी ! शायद सारे दिन क मेहनत करता रहा है, सो घबराकर बेहोश हो गया ।''

मैंने पल-भर को उसकी तरफ जलती हुई निगाहों से देखा और मुह फेर लिया। अभी-अभी जो दुर्घटना हुई थी, उसमें खुद रिक्शावाले के अलावा कहीं से यह शख्स भी जिम्मेदार था।

लेकिन तब तक रास्ते के मच पर दूसरा ही प्रहसन शुरू हो चुका था। करीब पचास-साठ आदमियों ने हमारी गाडी को चारों तरफ से घेर लिया। लोगों की भीड बढती जा रही थी। जिस गाडी से एक्सीडेंट हुआ है, उसे एक लडकी चला रही थी, बस यही बात शायद उनके मन मे उत्तेजना के बजाय उत्सुकता भर गयी थी। उस कमबख्त को मैंने किसी बडी दुर्घटना से बचा लिया, इसकी शाबासी किसी ने नही दी। उनकी नजर में तो किसी लडकी का गाडी चलाना ही भयकर अपराध था, और इसी की नुक्ताचीनी ही उनकी आलोचना का सरस विषय बन गया। वृद्ध अधिकारी भी उनकी बातों मे हा में हा मिलाते हाथ जोडकर उन्हे समझाने की कोशिश कर रहा था कि वे लोग जरा परे हट जाए और जरा यह देखने दें कि उस आदमी को गाडी मे डालकर अस्पताल ले जाने की जरूरत है या नही।

लेकिन उचित बात कौन सुनने वाला था? दो-चार अतिशय उत्साही लड़के गाडी पर ही थप्पड-मुक्का चलाने लगे और उनकी बातचीत के जो टुकड़े कानों में पहुच रहे थे, वही जी जलाने को काफी थी।

भीड़ के पास ही एक पुलिस-वैन आकर रुकी। चेहरे से गुरु-गभीर दीखने वाला एक इस्पेक्टर अपने दो-दो सिपाहियों के साथ भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ आया। सारा मामला समझने के बाद वह भीड को हटाते हुए रिक्शावाले के पास जाकर खडा हो गया। इतनी देर बाद मुझे और वृद्ध अधिकारी को आगे बढने का मौका मिला।

लेकिन रिक्शावाले की हालत देकर उन सबके तमाशे मे विघ्न पड गया। पानी के छीटे खाकर वह आदमी होश मे आकर उठ बैठा था। सबकी तरफ वह विस्मय से आखें फाड-फाडकर देख रहा था। उसके ऊपर चारो ओर से प्रश्नों की बौछार होने लगी कि उसे कहा चोट लगी है। लेकिन उसके मुह मे कोई आवाज ही नही निकल रही थी।

इस्पेक्टर अब सजग हुआ। उसने सबको खामोश रहने का आदेश

देकर, बेहद गंभीर भाव से उसका अंग-अंग टटोलकर देखा। उसके बाद उसका नाम-पता नोट करके एक सिपाही के साथ पुलिस-वैन में उसे अस्पताल भेज दिया। करीब पंद्रह मिनट तक वह पांच-सात प्रत्यक्षदर्शी लोगों के मन्तव्य नोट करता रहा। उनमें से अधिकांश दर्शक फुटपाथ के किनारे वाली दुकानों के दुकानदार थे। उन लोगों ने अपनी गवाही में जाने क्या-क्या कहा।

उस इंस्पेक्टर की उम्र करीब पैंतीस साल होगी। लेकिन उम्र की तुलना में वह काफ़ी गंभीर लगता था।

शुद्ध अधिकारी ने उससे कुछ कहना चाहा, लेकिन उसने उसे भी डांटकर चुप करा दिया, "आपसे नहीं पूछा गया है।"

उसने दूसरे सिपाही को रिक्शा थाने में ले जाने का आदेश दिया। उसके बाद हमारी तरफ़ देखते हुए हुक्म दिया, "चलिये।"

यानी थाने चलना होगा।

थाना करीब बीस-तीस गज की दूरी पर ही स्थित था। उस आदमी के हाव-भाव से लग रहा था मानो वापसी में मन-लायक शिकार मिल गया हो। हम लोग पैदल ही चल पड़े। मंझले भइया गाड़ी लेकर पीछे-पीछे आये। हमें थाने के दरवाजे तक छोड़ने वाले उत्साही दर्शकों की संख्या भी कम नहीं थी।

हमें थाने में बैठने को कहा गया। ऐसी विचित्र स्थिति में हम लोग अचकचा गये थे। इस समूची वारदात के बीच शुद्ध अधिकारी से निगाहें मिलते ही, मेरा अंग-अंग घृणा से सिहर उठा। उसकी निगाह भी मेरी ही ओर थी। उसके होंठों की कोरों पर हंसी की रेखा ठहर गयी थी।

इंस्पेक्टर अपनी नोट-बुक को मेज़ पर पटककर लकड़ी की कुर्सी पर जमकर बैठ गया। उसने पहले मुझ पर ही आक्रमण किया, "इतनी रैश ड्राइविंग क्यों करती हैं?"

मैं उसकी बात सुनकर अवाक् रह गयी; वैसे मैं थोड़ी नर्वस भी थी। मैंने जवाब दिया, "जी नहीं, मैं रैश ड्राइव नहीं कर रही थी। वह आदमी अपनी ही गलती से अचानक गाड़ी के सामने आ पड़ा। बल्कि मैंने तो उसे बचा लिया। इसके अलावा अगर गाड़ी की स्पीड तेज़ होती, तो उस

आदमी को कहीं चोट तो लगती...?"

इंस्पेक्टर ने निर्लिप्त भाव से अपना मन्तव्य दिया, "चोट लगी है या नहीं, वह तो अस्पताल की रिपोर्ट मिलने पर पता चलेगा। जिन लोगों ने देखा है, उन सबका कहना है कि गलती आपकी ही थी और आप गाड़ी तेज चला रही थीं।"

मैं विस्मय से गूंगी हो आयी। उस आदमी ने गंभीर भाव से नोट-बुक खोली और मुकुल 'दा से पूछ-पूछकर वह हमारी गाड़ी का नम्बर, नाम-धाम, घर का ठिकाना वगैरह नोट करने लगा। उसने एक बार व्यंग्य-भरे लहजे में यह भी पता करने की कोशिश की कि मेरे पास लाइसेंस भी है या नहीं।

मझले भइया बुरी तरह घबरा गये। मुकुल 'दा ने उस इंस्पेक्टर के आगे कुछ सफाई देने की कोशिश की, लेकिन उसने ऐंठकर कहा, "पुलिस-केस होगा, जनाब! आपको जो कहना है, कोर्ट में कहियेगा।...गाड़ी कहां है? जांच-पड़ताल के लिए वह भी आज थाने में जमा रहेगी।"

यानी उसने यह मान लिया था कि हमारे अपराधों की सीमा नहीं है? बहरहाल उसने भी दरियाफ्त किया कि मुझे छुड़ाने के लिए मेरी जमानत कौन देगा।

इस बार मझले भइया ने उसका मन पिघलाने की कोशिश की, "अच्छा, मान लीजिये, हम लोग उस आदमी को क्षतिपूर्ति में कुछ दे दें...?"

"इसका फैसला कोर्ट करेगा। हम लोगों का काम केस को कोर्ट तक पहुंचाना है। हम लोग वही करेंगे।"

खैर, वह क्या केस बनाकर भेजेगा यह भी बिलकुल स्पष्ट था।

मझले भइया ने बेवकूफ की तरह दुबारा सवाल किया, "केस होने पर क्या-क्या हो सकता है?"

"दोष प्रमाणित होने पर बहुत कुछ हो सकता है। पांच सौ से लेकर हजार रुपये तक जुर्माना हो सकता है। छह महीने से, साल-भर तक जेल हो सकती है। लाइसेंस तो खैर जब्त हो ही सकता है।"

अचानक शुद्ध अधिकारी ने बेहद धीमी आवाज में एक प्रश्न किया,

जिसे सुनकर हम सभी चौंक उठे। उसने इंस्पेक्टर की ओर देखते हुए बेहद निरीह भाव से पूछा, "क्यों, फांसी-वांसी नहीं हो सकती ?"

क्रुद्ध इंस्पेक्टर अचानक तनकर बैठ गया, "व्हाट ?"

शुद्ध अधिकारी ने उसी विनयशीलता से अपना प्रश्न दुहरा दिया, "मैं पूछ रहा था कि फांसी-वांसी नहीं हो सकती ?"

इंस्पेक्टर मेज़ पर मुक्का जमाते हुए एकदम से उठ खड़ा हुआ, "शट अप !"

ठीक उसी वक्त कमरे के अन्दर मानो वज्रपात हुआ। शुद्ध अधिकारी ने भरपूर ताकत से बम फेंकने के अन्दाज़ में मेज़ पर ज़ोर का घूंसा जमाया और ताव में उठकर खड़ा हो गया। समूचे कमरे को कंपाते हुए वह चौगुने तेज से दहाड़ उठा, "यू शट-अप !" उसने उंगली से फ़ोन की तरफ़ इशारा करते हुए कहा, "गिव मी कनेक्शन टु हेड क्वार्टर्स योर कमिश्नर ऑफ़ पुलिस। अपने हेडक्वार्टर में पुलिस कमिश्नर से बात कराओ और उसके बाद मंत्री से ! उनसे कहो, मिस्टर एस० अधिकारी ऑफ़...के बात करना चाहते हैं।"

उसने गरजती हुई आवाज़ में किसी मंत्री और अपने अखबार का नाम घोषित किया।

सिर्फ़ हम लोग ही नहीं, वह इंस्पेक्टर भी कुछेक पल के लिए जैसे गूंगा हो आया। उसकी दहाड़ सुनकर बगल वाले कमरे के लोग भी आकर दरवाज़े पर आ खड़े हुए।

इन लोगों को शायद जी-हुजूरी की आदत पड़ चुकी थी अत: प्रति-उत्तर में दहाड़ सुनकर वह अफ़सर भी घबरा गया। उसकी ज़ुबान से खुद-ब-खुद 'सर' निकल गया, "स...सर...आइ मीन, आप कौन हैं ?"

सुर्ख गोरे रंग पर यूं खून चढ़ते हुए मैंने पहले कभी नहीं देखा था। समूचा चेहरा मानो आग के गोले की तरह तप आया था।

वह उसी तरह गरजती आवाज़ में बोला, "मैं चाहे जो होऊं, आपसे जो कहा गया है, आप वह करेंगे या नहीं ? लाइन मिलाते हैं या नहीं ? आपके बड़े साहब कहां हैं ? व्हेयर इज़ योर ओ० सी० ?"

इंस्पेक्टर सहमकर पिद्दी बन गया था, "जी, वे...वे बाहर गये हैं...

मैं तो अपनी ड्यूटी कर रहा था। आप इतना नाराज क्यों हो रहे हैं?"

"यही आप ड्यूटी कर रहे हैं? इन देवीजी ने उस आदमी की जान बचायी और आप बिना कुछ देखे-समझे उन्हें यहां लाकर परेशान कर रहे हैं? इसी को ड्यूटी कहते हैं? आप लोगों की ऐसी ड्यूटी का मतलब क्या मुझसे छिपा हुआ है?"

हम सब निर्वाक् और विमूढ़ थे। इंस्पेक्टर महोदय की भी वही दशा थी।

अब शुद्ध अधिकारी ने जरा नरम पड़कर कहा, "मेरा नाम लिख लीजिये—शुद्ध अधिकारी! फलां अखबार! आपको क्या-क्या लिखना है, लिख डालिये, उनकी जमानत के लिए मैं दस्तखत किये देता हू। और हां, अपने बड़े बाबू को भी मेरा नाम बता दीजियेगा और कहियेगा कि पुलिस-कमिश्नर को फोन कर लें। उसके बाद जो स्टेप लेना हो, लीजियेगा। बट, डोण्ट स्टॉप अस एनी मोर! चलो, मुक्ल 'दा, घर पहुंचकर मैं मंत्री साहब को फोन पर...लेकिन वे तो अभी कलकत्ता में नहीं हैं। खैर, और भी बहुत से हैं! चलो!"

हमारे उठ खड़े होने से पहले, थाने के ही किसी विमूढ़ कर्मचारी ने इंस्पेक्टर के कानों में फुसफुसाकर कुछ कहा। उसकी बात सुनकर इंस्पेक्टर मानो और घबरा गया।

उसी आदमी ने शुद्ध अधिकारी की तरफ देखते हुए सविनय भाव में कहा, "आप अन्यथा न लीजियेगा, सर! असल में हमारे इंस्पेक्टर साहब ने समझा कि असावधानी की वजह से यह एक्सीडेंट हुआ है, इसीलिए आपसे इस तरह पेश आये। मैं अपने ऑफिसर-इन-चार्ज को भी आपके बारे में बताऊंगा...वैसे भी मामूली-सी बात है! अब आप लोगों की शायद जरूरत भी न हो! अच्छा, सर, नमस्कार! कृपया बुरा न मानें!"

हम लोग मूर्ति की तरह एक-एक करके बाहर निकल आये। शुद्ध अधिकारी सर्राटे से आगे बढ़ा और गाड़ी की अगली सीट पर दुबारा जमकर बैठ गया।

मझले भइया ने कहा, "अब कहीं नहीं जाना है! ना, गाड़ी मैं चलाता

हूं। चल, तू पीछे बैठ !"

जाने क्यों उनकी बात सुनते ही मेरे सिर पर दुबारा खून चढ़ गया। मैं बिना कुछ कहे-सुने उस आदमी की बगल में यानी ड्राइवर की सीट पर जा बैठी।

पीछे के लोग अभी ठीक तरह बैठ भी नहीं पाये थे कि मैंने झटके से गाड़ी स्टार्ट कर दी।

इतनी देर बाद सुबल 'दा ने जुबान खोली, "तूने तो यार, बिलकुल कमाल कर दिखाया, वाह !"

मैंने बरबस ही उसकी तरफ़ दबी निगाहों से देखा। उसके चेहरे पर लाज-शर्म का नामोनिशान भी नहीं था। वही दूध-धुला उजला-गोरा चेहरा।

वह धीमे से मुसकराया और पीछे की तरफ़ बिना मुड़े ही उसने जवाब दिया, "अरे, नहीं ! कमाल-वमाल कुछ नहीं ! अखबार के दफ्तर में नौकरी करने वालों के जो पंख निकल आते हैं, यह उसी की महिमा है।"

खैर, अभी तक मुझे भी यह समझ नहीं आया था कि यह सब कैसे हो गया। पीछे की तरफ़ से दो व्यक्तियों के ठहाके सुनकर, मैंने अनजाने में ही गाड़ी की स्पीड तेज कर दी। अचानक चारों ओर गहरी चुप्पी छायी गयी।

शुद्ध अधिकारी ने चुप्पी तोड़ते हुए रास्ते की तरफ़ निगाहें गड़ाकर अपना मन्तव्य दिया, "सुनते हो, सुबल 'दा, अब अगर दुबारा कोई दुर्घटना हुई, तो मैं संभालने से रहा।"

धच्च् ! गाड़ी को जैसे एक धक्का लगा और घिसटते हुए पहिये कांपती-कराहती धरती के सीने पर अचानक थम गये। मैंने स्टीयरिंग पर हाथ रखते हुए उसकी तरफ़ देखा, "आप कहां उतरेंगे ?"

सचमुच इसे अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं था कि वह आदमी नाटक में जान डाल देने की कला में माहिर है। अचानक उसने जो नाटक किया, उसके लिए कोई भी प्रस्तुत नहीं था। पल-भर को वह मेरे चेहरे की तरफ़ उधर-उधर आंखों से देखता रहा, और हठात् गाड़ी का दरवाजा खोलकर खटाक् से रास्ते के बीच में ही उतर गया।

"यही..."

उसने ज़ोर से गाड़ी का दरवाजा बन्द कर दिया और इधर-उधर देखे बिना हनहनाते हुए रास्ता पार गया।

पीछे रुकी हुई गाडियों के हॉर्न सुनकर मैं सचेत हुई और मैंने दुबारा गाड़ी को स्टार्ट किया।

उसके बाद मंझले भइया की झुंझलायी हुई आवाज़ सुनायी दी, "भला यह तूने क्या किया?"

मुकुल 'दा को भी मेरा यह तरीका अप्रिय लगा था, "हां, ठीक ही तो! इससे पहले तो उसे कभी इस तरह नाराज होते नहीं देखा? थोड़ी देर पहले थाने में वह कांड कर बैठा, उसके बाद यूं आगबबूला होकर चल दिया, मानो..."

खैर, बौखलाहट तो मुझे भी हो रही थी। लेकिन उनकी बातें सुनकर मैं अपना दिमाग ठीक नहीं रख पायी। मैंने कहा, "नाराज हो गया, तो क्या हो गया। अखबार के दफ्तर में काम क्या करता है, मानो सबको खरीद ही लिया हो।"

मुकुल 'दा ने हंसकर ही जवाब दिया, "अखबार का नाम तो खैर, वह इसी तरह भुना-भुनाकर खाता है? लेकिन लोगों को खरीद लेने की करामात खुद उसी की है! अपने धन्धे की वजह से मैं कम-से-कम पचीस-तीस अखबार वालों को जानता हूं, लेकिन ऐसा रौब किसी में नहीं है।"

इसकी सफाई में मुकुल 'दा ने जो कहा, उसका सार-निचोड़ यह था कि दरअसल इस दुनिया में कुछ लोग हालांकि बेहद साधारण बुद्धि वाले और सीधे-सादे होते हैं, लेकिन भगवान के यहां से यश-सम्मान बटोरने का सौभाग्य जैसे लिखाकर ही आते हैं। यह सब सितारों के खेल के अलावा और कुछ नहीं है! वे तो कॉलेज के जमाने से ही देखते आ रहे हैं कि छात्र-छात्राओं के अलावा मास्टरों से भी शुद्ध अधिकारी की महाखातिर रहती थी। सब-के-सब हाथ धोकर उसके पीछे पड़े रहते थे, लेकिन उसकी इज्जत भी करते थे। नौकरी के बाजार में भी उसका सितारा बुलन्द हुआ। पहले वह किसी नामी-गिरामी अंग्रेजी अखबार के दफ्तर में काम करता था। अचानक किसी बंगला अखबारवाले ने उससे

भी बड़ी तन्खाह का चारा फेंककर उसे अपने दफ्तर में खींच लिया। हालांकि इसके पीछे भी धांधली थी। कांग्रेस सरकार के बिलकुल शीर्षस्थ लोगों से उसकी साठ-गांठ है। जाने कितने ही दिनों उन्होंने उसे कितने-कितने मंत्रियों की बगल में बैठकर हवाखोरी के लिए जाते हुए देखा है। इन सबकी वजह से बाजार में बिजनेस-मैगनेट लोगों के बीच उसकी भयंकर खातिर है।

सुबल 'दा बी० ए० पास करने के बाद पिता से अलग हो गये थे। इसी शुद्ध अधिकारी ने उन्हें वचन दिया था कि वह उन्हें पांच सौ रुपये वाली नौकरी तो अनायास ही दिला सकता है। सुबल 'दा अगर इस धन्धे में न होते तो शायद वही नौकरी कर लेते। नतीजा यह है कि अगर कभी किसी मामले में मोटे रुपयों की अचानक जरूरत पड़ती है और फण्ड में रुपये न हों, तो पार्टी के करबद्ध अनुरोध पर यही शुद्ध अधिकारी उन बिजनेस-मैगनेटों से खासी रकम दुह लाता है!

इतना सब सुनने के बाद भी वह सीधी-सादी बुद्धि वाला साधारण इंसान अपनी किस्मत के दम पर विषधर सांप हो उठा है—यही खयाल मन पर अमिट छाप छोड़ गया था। वरना मेरे लिए यह उचित था कि मैं इस अप्रिय प्रसंग की कोई सफ़ाई देती कि अपने काम के लिए यानी थाने में इतना उपकार पाने के बाद भी उन महाशय को इस तरह बीच राह में क्यों उतार दिया। लेकिन मुझे इसमें भी सख्त एतराज़ था। मैंने उसी तरह तेवर बदलकर कहा, "लेकिन मैं पूछती हूं, आज के प्रोग्राम में उस सूरत को इतने प्यार से बुलाने की क्या जरूरत थी?"

सुबल 'दा ने मेरी बात को हंसी में उड़ाते हुए कहा, "अरे, उसे भी अपने धन्धे में खींच लाये तो वाकई अपना पौ बारह है। इसीलिए तो सुदीप भइया से सलाह-मशविरा करके उसे पकड़ लाया और उसने भी जब इस घर का नाम सुना तो बड़े मन से चला आया...लेकिन लगता है तुमने सब मटियामेट कर दिया।"

सम्भव है सुबल 'दा के उद्देश्य के प्रति मेरे मन में कोई कौतुहल जाग उठता लेकिन मंझले भइया की वजह से उस तरफ़ दिमाग ही नहीं गया।

मंझले भइया ने मुझे सुनाते हुए कहा, "अरे भई, आज अगर वह न

होता तो शायद हम छूट ही नहीं पाते।"

मैंने भी अग्निवाण छोडा, "हुंह! आज अगर वह न होता तो शायद थाने तक जाने की नौबत ही नहीं आती, समझे? उस अहमक रिक्शावाले को भी मैं बचा ले जाती।"

घर लौटकर यज्ञेश्वर की जुबानी सुना कि बडी मा का अचानक सिर चकरा गया था और वे सीढी पर से गिरने वाली थीं, लेकिन उन्होंने सीढी पकड ली। बस, इसीलिए बच गयी। उसके बाद किसी तरह उन्हें बिस्तर पर लिटा दिया गया है। लेकिन बडी मा ने न डॉक्टर बुलाने दिया, न होटल मे फोन पर खबर देने दी। अभी भी वे लेटी हुई थीं, लेकिन पहले से बेहतर थीं।

मंझले भइया और मुकुल 'दा बडी मा के कमरे की तरफ दौड गये। सिर घूमने की बीमारी नयी नहीं थी। लेकिन इन दिनों बढ गयी थी। यूं ही उनको लो-प्रेशर था, ऊपर से खाने-पीने में बदपरहेजी। ठाकुरजी की पूजा-अर्चा की मियाद भी क्रमश बढती जा रही थी। डॉक्टर तो यहां तक डर दिखा गया है कि उनके दिल की भी हालत नॉर्मल नहीं है। उन्हें चलने-फिरने में सावधानी बरतनी चाहिए। लेकिन कौन किसकी सुनता है। ऐसी कमजोरी में भी वे जाने कितनी बार सीढियां उतरती-चढती थीं। चूंकि बडी मा ने मना कर दिया था, इसीलिए डॉक्टर तक को खबर नहीं भिजवायी गयी। यह सुनकर मैं मन-ही-मन माधुरी पर नाराज हो उठी। हम लोगों के काम पर निकलते ही वह भी मौके का फायदा उठाते हुए अपने मायके जा बैठी होगी और वहां बैठी-बैठी मन-ही-मन आग-भभूका हो रही होगी कि उनके पिताश्री के बुलाने के बावजूद मझले भइया अब तक वहां पहुंचे क्यों नहीं। अब वह घर आकर जब सारा हाल सुनेगी तो नि सन्देह मेरे गाडी चलाने को लेकर ताने कसेगी। वैसे उसकी मेरे सामने कुछ कहने की हिम्मत नहीं है। वह अपने मन की भडास पीठ-पीछे निकालती फिरेगी।

मैंने कपडे बदलकर, हाथ-मुंह धो डाले और मन से जरा संयत होते ही बड़ी मां के पास बैठने के लिए उनके कमरे की तरफ चली गयी।

मंझले भइया कान से फोन लगाये हुए थे। हां, उबलते हुए गर्म शीशे की तरह उनकी बातचीत का एक टुकड़ा मेरे कानों तक भी पहुंच गया। मंझले भइया कह रहे थे, "अरे, जाता कैसे? दीपू ने गाड़ी लेकर जिस झमेले में फंसा दिया था..."

मैं उसी तरह तमतमायी हुई बड़ी मां के कमरे की ओर बढ़ गयी। लेकिन मुझे कहां मालूम था कि यहां भी एक मंच तैयार है! मुझे देखते ही बड़ी मां की आंखें चढ़ गयीं। उन्होंने छूटते ही कहा, "आज तू कैसा भयंकर सर्वनाश करने वाली थी, पता है?"

मैंने पूछा, "बिस्तर पर पड़े-पड़े सारी दास्तानें सुनते हुए कहीं तुम्हारा सिर दुबारा तो नहीं घूमने लगा?"

बड़ी मां एक झटके में उठकर बैठ गयी, "क्यों, सिर घूमने में कोई कसर रह गयी है? मैंने कितनी बार तुझको मना किया कि गाड़ी मत चलाया कर! मत चलाया कर! लेकिन मेरी बात तेरे कानों से पड़ती भी है? आज अगर वह लड़का न होता तो जाने कितनी मुसीबत उठानी पड़ती, कुछ ठीक है?"

"हां...हां! भयंकर गजब हो जाता! धरती फटकर दो टुकड़े हो जाती और हम लोग गाड़ी समेत उसमें विलीन हो जाते!"

उत्तेजना के मारे बड़ी मां का गुस्सा भी तेज हो उठा; "देख, अच्छा नहीं होगा, मैं कहे देती हूं। उस लड़के ने इतना भला किया और तूने उसे जो-सो कहकर बेइज्जत किया और गाड़ी से उतार दिया? तुझे आखिर हुआ क्या है? तू अपने को पढ़ी-लिखी कहती है न?"

मेरी गंभीर दृष्टि सुबल 'दा के चेहरे पर ठहर गयी। मैंने कहा, "डॉक्टर को बुलाने के बजाय यह किस्सा सुनाने के लिए तुम्हें और कोई वक्त नहीं मिला था?"

सुबल 'दा ने हंसते हुए सफ़ाई दी, "मैं क्या करता? घर में कदम रखते ही वह सुदीप ही तो लगाई-बुझाई कर गया।"

सुबल 'दा की आवाज को दबाते हुए बड़ी मां ने उन्हें डांट कर कहा, "मैं यह जानना चाहती हूं कि इस बिज़नेस-फिसनेस से तुम लोग उसे विदा करोगे कि नहीं? तुम लोगों को कुछ पता भी है? इस बिज़नेस ने

ही उनका दिमाग खराब कर रखा है।"

मैं अपने को झटका देकर उठ खड़ी हुई और गुस्से से बिफरती हुई वहां से चली आयी। लेकिन दरअसल मैं मन-ही-मन सहम गयी थी। मर्दों की तरह मेरा बिजनेस में डूबे रहना बड़ी मां की आंखों में कांटे की तरह गड़ने लगा था। उन्होंने मझले भइया, छोटे भइया और भुवन 'दा से बहुत बार कहा है कि इन सब धन्धों में तुम लोग उसे मत घसीटो। उसका इतना लटपट करना मुझे बिलकुल नहीं सुहाता!

आज उनकी तबीयत खराब थी और ऐसी हालत में अगर मैं उनके पास रही, तो मुमकिन है उनके दिमाग पर झक सवार हो जाती और वे मेरे आगे आंसू बहाकर, बिजनेस में न सही, गाड़ी न चलाने की प्रतिज्ञा कराये बिना न मानतीं। यह बात वे अच्छी तरह जानती थीं कि जो काम वे मुझे लाख डरा-धमकाकर भी नहीं करा सकतीं, मेरे आगे दीन-हीन बनकर आसानी से करवा लेंगी।

लेकिन मुझे सच ही भभककर गुस्सा आ रहा था। छोटे भइया और माधुरी के घर लौटने पर वह गुस्सा घटने के बजाय और बढ़ गया था। लेकिन रात को जब मैं अपने कमरे में अकेली लेटी हुई थी तो करवटें बदलते हुए मानो अपना ही असंयत व्यवहार मेरे सामने प्रश्नचिह्न बनकर आ खड़ा हुआ। मेरी आंखों के आगे बार-बार उस अवांछित व्यक्ति की सूरत फिर आयी—थाने में गुस्से से आगबबूला होकर उस जबरजंग इन्स्पेक्टर को डपटती हुई सूरत। आमतौर पर बिस्तर पर लेटते ही मुझे नींद आ जाती थी। लेकिन आज नींद भी नहीं आ रही थी। मेरे मन में रह-रहकर यह सवाल उठ रहा था कि किसी साधारण बुद्धि वाले इंसान के लिए यह मुमकिन है या नहीं कि महज सौभाग्य के दम पर ऐसी बेकायदा परिस्थिति में यूं गरज उठे।

इसके बाद ही बेहद द्रुत ताल-छंद में जो कुछ घटना चला गया, वह सब किसी वृहदतर घटना की सूचना है, यह मैंने एक बार भी नहीं सोचा था। और इसका भी किसे अंदाज था कि किसी तूफान का खबर ।

मुझे कुल मिलाकर तिनके की तरह उलट-पलट देगा। मैंने सुना था, धीमी गति से आगे बढ़ना पुरुषोचित रीति नहीं है! अपने अभीष्ट के अव्यर्थ संधान में वह बगुला की तरह दत्तचित्त रहता है और देखते ही छूमन्तर की तरह एक झटके में समेट ले जाता है! लेकिन यह कहना व्यर्थ है कि शुभ्र अधिकारी को मैंने उतना-सा भी पुरुषोचित सम्मान नहीं दिया, न देने के लिए प्रस्तुत ही थी!

लेकिन मुझे उसका अभीष्ट जानने में अधिक देर नहीं लगी। बड़ी मां के साथ हठात् इतनी खातिर, मंझले और छोटे भइया यहां तक कि माधुरी से भी गले-गले प्रेम, हमारे बिजनेस को लेकर इतना सिर खपाने के पीछे...दरअसल मैं हूं, यह समझने में मुझे जरा भी देरी नहीं लगी। हां, जितनी तेजी से उसका यह उद्देश्य मेरी समझ में आता गया, उस आदमी के दुस्साहस पर मेरी हैरानी बढ़ती गयी। पिछले जमाने में राजा-महाराजा महज राजसिंहासन के बल पर आकाश के चांद की तरफ़ हाथ बढ़ाने में भी दुविधा नहीं करते थे। मेरा ख़याल था, अखबार की नौकरी और आस-पास के ऐरे-गैरे चमचों की चापलूसी की दौलत के बल पर उस आदमी का भी साहस उस हद तक बढ़ गया था। लेकिन उसके साहस की गति इतनी तेज थी कि ठंडे दिमाग से कुछ सोचने की मुझे फ़ुरसत ही नहीं मिल रही थी।

शुभ्र अधिकारी के महान् रोब-दाब का परिचय अगले दिन सुबह ही मिल गया।

उस दिन सुबह-सुबह ही थाने के बड़े बाबू इंस्पेक्टर समेत हमारे घर आ पहुंचे। सीधी-सादी भाषा में, वे लोग अपने रूढ़ व्यवहार के लिए माफ़ी मांगते रहे। मंझले भइया ने क्षति-पूर्ति की बात उठायी तो बड़े बाबू ने उसे भी हंसकर उड़ा दिया। उन्होंने कहा, "वह आदमी अगर समर्थ होता और अगर वहीं आपकी गाड़ी डैमेज हुई होती तो आप क्षति-पूर्ति का दावा कर सकते थे।" अच्छी तरह जांच-पड़ताल के बाद, वे भी इसी फ़ैसले पर पहुंचे थे कि सारा कसूर उन सिपाहियों का था।

ओ० सी० साहब ने जाते-जाते अनुरोध किया कि मिस्टर अधिकारी यानी शुभ्र अधिकारी कल के अपराधों का बुरा न मानें। अस्पताल की

रिपोर्ट में भी यही पता चला है कि भरपेट खाना न मिलने की वजह से, रिक्शावाले का कमजोर शरीर इस मानसिक धक्के को बर्दाश्त नहीं कर पाया था और वह बेहोश हो गया था।

उस दिन शुद्ध अधिकारी ने घटना-स्थल पर ही हमें यही आश्वासन दिया था। लेकिन जो भी हो, उस आदमी की डपट का इतना रौब पड़ा कि थाने का अफसर तक दौड़ा चला आया, यह मेरे लिए सचमुच आश्चर्यजनक बात थी।

शाम करीब चार बजे दोमंजिला जीना चढ़कर जैसे ही मैंने बड़ी मा के कमरे में पैर रखा कि दुबारा धक्का लगा। बड़ी मा की तबीयत ठीक नहीं, यही सोचकर मैं आज जल्दी घर लौट आयी थी।

...बड़ी मा बिस्तर पर लेटी हुई थी। चेहरा खिला हुआ। उनके बिस्तर के पास, फर्श पर किसी अंतरंग आत्मीय की तरह आसीन—शुद्ध अधिकारी। जब से हमने होश संभाला है, बड़ी मा को जमीन पर ही सोते देखा है! शुद्ध अधिकारी सिर्फ हंस-हंसकर गप्पें ही नहीं मार रहा था, एक और हैरतअंगेज काण्ड में भी लगा हुआ था। वह संतरे छील-छीलकर एक-एक फांक साफ करके तश्तरी में रखता जा रहा था और दूसरी तरफ माधुरी खड़ी-खड़ी ईषत् बनावटी हंसी हंस रही थी।

मुझे देखकर बड़ी मा पल-भर को सकपका गयी। फिर हंसकर कहा, "आ, जरा इस पगले की करतूत देख जा! दफ्तर में फोन पर सुबल की जुबानी खबर मिली कि मेरी तबीयत खराब है, सो ठोंगा भर फल उठाये घर पर हाजिर हो गया। माधुरी ने इतना-इतना कहा लेकिन उसे नहीं दिया, खुद ही संतरे छीलने बैठा है। कहता है, उसके बाप मुझे जिस नजर से देखते थे, वैसा वे किसी को नहीं देखते थे, सो उसे भी वैसा करते देखकर उसके बापू स्वर्ग में बैठे-बैठे खुश होंगे। और अगर मैंने अभी ही ये संतरे नहीं खाये, तो आज रात वह भी उपवास करेगा।"

मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि इन बातों पर मैं विश्वास करूं या न करूं।

बड़ी मा ने कहा, "अपने बापू के बारे में इसने कितनी कहानियां

सुनायीं, तूने तो सुनी ही नहीं। इसके बापू तेरे बारे में भी कितनी-कितनी बातें करते थे। यह सब सुनते हुए खुशी के मारे मेरी आंखें भर आयी थीं। ...उनके जैसा आदमी अब सचमुच नहीं मिलेगा।" बड़ी मां ने लम्बी-सी उसांस भरी और उनकी आंखें एकबारगी बड़े भइया की तसवीर पर ठहर गयीं। उन्होंने दुबारा कहा, "कल तू खामखाह उस पर नाराज़ हो गयी। कल जब से सुना, मुझे तभी से बुरा लग रहा था, लेकिन इसे देख। वह सब-कुछ भुलाकर कैसे हंसते हुए चला आया।" उन्होंने उस हंसमुख चेहरे की तरफ़ नजरें टिकाकर कहा, "तुम कुछ खयाल न करना, बेटा! बीच-बीच में वह इसी तरह बिगड़ैल हो जाती है! उसका स्वभाव ही ऐसा है।"

शुद्ध अधिकारी ने फ़ौरन सिर हिलाकर सहमति दी कि वह बुरा नहीं मानेगा। उसने छूटते ही कहा, "अरे, इसमें याद रखने की क्या बात है, मौसी? मुझे तो मालूम है कि जो लड़कियां गाड़ी चलाती हैं, खुद भी बीच-बीच में, इसी तरह बिगड़ जाती हैं।"

माधुरी की दबी हुई हंसी गालों तक झलक आयी यानी यह मंतव्य सुनकर उसे भी खुशी हुई।

बड़ी मां भी हंसने ही जा रही थी कि अचानक जैसे कुछ याद आ गया, "क्यों, मैं तुझे इतना-इतना मना करती हूं न! लेकिन तुझे तो जैसे सुनायी ही नहीं देता। देख ले, शुद्ध भी कह रहा था कि जब तक हाथ बहुत पक्का न हो जाये, कलकत्ता शहर में गाड़ी चलाना उचित नहीं है! तेरा हाथ अभी भी कच्चा है। देख ले, अपनी गलती से तूने उस बिचारे रिक्शावाले को अस्पताल भेज दिया। शुद्ध, देखना बेटा, अगर संभव हो तो उस रिक्शावाले को मेरे यहां भेजना न भूलना! बिचारा गरीब आदमी! उसे कुछ मिल जायेगा तो उसकी गृहस्थी चल जायेगी।"

मेरी नजर बचाकर शुद्ध अधिकारी ने सिर हिलाकर जताया कि वह उसे भेज देगा। मैं पीछे खड़ी-खड़ी उसकी तरफ़ आग्नेय दृष्टि से देखती हुई उसे भस्म कर देना चाहती थी, यह बात शायद वह स्वयं भी महसूस कर रहा था।

माधुरी से भी अब नहीं रहा गया। उसने छौंका लगाते हुए कहा,

"शुद्ध बाबू तो पक्के हाथ में अधिक मिजाज़ ठंडा रखने पर जोर दे रहे थे। उनका कहना है, दिमाग ठडा न हो, तो स्टीयरिंग पकड़ना ही अनुचित है।"

इतनी देर बाद बड़ी मा को शायद मेरे बिगडे हुए मिजाज़ का ध्यान हो आया। उन्होंने हडबडाकर स्थिति सम्हालने की कोशिश की। "ख़ैर, जो कुछ हुआ, सो हुआ! तू तब से खडी क्यों है? बैठ न! बहू तेरा खाना यहीं ले आयेगी! बाहर से आ रही है, हाथ-मुह धो लिया?"

मुझे कोई फर्क नहीं पडा। मैंने सयत भाव से जवाब दिया, "नहीं, मैं अपने कमरे में बैठूगी। इतने दिनों से देखने आ रहे हो, लेकिन मुझे पहचान नहीं पाये। अब जब मौका मिला है, तब अच्छी तरह जान-समझ लो।"

बड़ी मां अजीब आफत में फस गयी, "तो इसमें नाराज़ होने की क्या बात है?"

"नाराज़? तुम पाच साल की नन्ही-मुन्नी हो न? जाने कहा से कौन तुम्हें समझाने चला आया, और तुम आंख-कान बद किये वही-वही समझ गयी! क्यों? मैं पूछती हू, तुम हर किसी को इतना प्रश्रय क्यों देती हो?"

अपने कमरे में आकर मुझे अपने को सम्हालने में थोडा वक्त लगा था। लेकिन यह सब तो महज शुरुआत थी।

अगले दिन दफ्तर में पहुचते ही एक भयकर खबर सुनने को मिली। बात यह थी कि किसी प्राइवेट प्रतिष्ठान का सरकार से काफी घनिष्ठ सबंध था और विज्ञापन के लिए उसका सालाना बजट साढे तीन लाख रुपया था। अब तक उनका सारा काम हम लोग ही करते आ रहे थे। लेकिन इस बार निर्दिष्ट समय बीत जाने पर भी उन्होंने आगामी विज्ञापन की कोई योजना हमारे सामने नहीं रखी थी। इधर कई दिनों से उन्हें फोन भी किया जा रहा था, लेकिन वे लोग 'हो रहा है—हो जायेगा' कहकर हमें टालते रहे। आज उन लोगों ने स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता जाहिर कर दी। अखबार में जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, उसे लेकर उनकी कम्पनी में भी पाच तरह की बातें उठने लगी थीं।

बा॰

था कि इस बार वे लोग कामों का बंटवारा कर देते। बहरहाल, किसी निश्चित फ़ैसले पर पहुंचने के पहले कुछ कहना नामुमकिन था। अजीब समस्या उठ खड़ी हुई। सुबल 'दा ने शुद्ध अधिकारी को फ़ोन किया। उसने कहा कि वह थोड़ी देर में पहुंच जायेगा। मेरा पारा खट् से आसमान पर चढ़ गया। ऐसा दुनिया में कहीं नहीं होता। पब्लिसिटी के कामों में बंटवारा हो ही नहीं सकता। हर फ़र्म में विज्ञापन की केवल एक बड़ी योजना बनाई जाती है। साढ़े तीन लाख की क्या बात है, कई-कई संस्थाएं तो आठ-आठ, दस-दस लाख के काम कर रही थीं। लेकिन उनके लिए कोई आपत्ति नहीं उठायी गयी, क्योंकि उनके बिजनेस के साथ महिलाओं का नाम नहीं जुड़ा है। महिलाओं के शामिल होने पर ही उस अखबार ने टुच्चे स्तर का कटाक्ष किया था। जो अखबार इस नुकसान का कारण बना था, वहीं के एक व्यक्ति को सुबल 'दा ने अपना एकमात्र मददगार मान लिया था।

अच्छे-बुरे का खयाल जहन्नुम में दफ़न हो चुका था। मैं कुर्सी छोड़कर उठ खड़ी हुई। मैंने कहा, "सुनो, जो आ रहा है, उसे विदा कर देना। मैं उस दफ़्तर में खुद जा रही हूं, अगर अपने से काम बन गया, तो फ़ायदा-ही-फ़ायदा है, वरना साढ़े तीन लाख रुपये का बिजनेस ही तो जायेगा। इसमें मार-पीटकर सिर्फ़ पंद्रह हज़ार रुपयों का ही फ़ायदा तो था हमें! अगर वह हांथ से निकल भी गया, तो ऐसा तो नहीं है कि हमारी फ़र्म फुटपाथ पर जा बैठेगी।"

मैं गुस्से में गाड़ी लेकर निकल पड़ी। लेकिन कुछ दूर चले आने पर असली परेशानी का अहसास हुआ। चलो, मान लिया कि पार्टी हाथ से निकल भी गयी, तो कोई भयंकर बात नहीं होगी। लेकिन बंधा-बंधाया काम अचानक हाथ से निकल क्यों गया, बाज़ार में इस बात का ढिंढोरा पिटते देर नहीं लगेगी। अगर कोई बदनामी फैल गयी तो मुमकिन है, एक-एक करके बहुत से लोग अपना हाथ खींच लेंगे। इस लाइन में आदमी की भेड़ की झुंड जैसी दशा होती है—जब आने लगते हैं तो सब-के-सब कतार बांधकर आते हैं। एक-दूसरे की देखा-देखी बहुत-से लोग आ पहुंचते हैं, लेकिन जब पलट जाते हैं, तो सब-के-सब चल देते हैं। सचमुच

यह चिन्ता का विषय था।

वैसे उस कम्पनी के जनरल मैनेजर से सिर्फ परिचय ही नहीं, दोस्ती का रिश्ता भी था। लेकिन उसकी बात सुनकर मैं एकबारगी घबरा गयी। विज्ञापन रोक देने का आदेश स्वयं मैनेजिंग डाइरेक्टर महेश्वर भान् ने दिया था, अतः अब मामला मैनेजर के अख्तियार से बाहर जा चुका था। जब तक वहाँ से निर्देश नहीं मिलता, जनरल मैनेजर भी कुछ नहीं कर सकता।

इसी कम्पनी का काम इतनी जल्दी क्यों अटक गया, इसकी वजह भी समझ में आ गयी। अभी कुछ ही दिनों पहले महेश्वर भान् और उनकी बीवी के मामले की चटपटी रिपोर्ट अखबार में पढ़ चुकी थी। मियाँ-बीवी दोनों ने भरी अदालत के सामने एक-दूसरे पर बेवफाई का इल्जाम लगाया था। वैसे महेश्वर भान् के साथ किसी अन्य महिला का नाम जोड़कर, शिकायत पहले मिसेज भान् ने ही की थी। मिस्टर भान् ने उत्तर में वही आरोप उन पर भी जड़ दिया। बाद में कहीं कोई बात न उठे, इस खतरे को खत्म कर देने के खयाल से उन्होंने सबसे पहले हमें काम देना बन्द कर दिया था।

खैर, मेरा अपना खयाल यह था कि इन मामलों में भान् कतई भला आदमी नहीं है। लेकिन हमें तो सिर्फ काम पाने से मतलब था, अतः इन समस्याओं को लेकर मैंने कभी दिमाग खराब नहीं किया। उस आदमी से भी मेरा काफी परिचय था, लेकिन फिर भी जाने क्यों मुझे परेशानी हो रही थी। मुझे यह भी समझ में आ गया था कि इस वक्त उन महोदय से बात करने में कोई फ़ायदा नहीं होगा। वैसे भी वह आदमी जिस मुसीबत में फंसा हुआ है या फंस गया था, इस वक्त मिलने को राजी भी होगा, इसमें भी सन्देह था। उसमें अगर सचमुच साहस होता, तो वह उन्हें काम देना हरगिज बन्द नहीं करता। इसके अलावा यह बात भी समझ में आ रही थी कि उसके हुक्म के बिना जनरल मैनेजर भी एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता था।

आज मुझे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि ऐसे महान संकट के पलों में जो व्यक्ति दरवाजा खोलकर कमरे में दाखिल हुआ, उसे

देखकर मैं एकबारगी चौंक गयी थी। शुद्ध अधिकारी ! भूरे रंग की कीमती पैंट, देह पर कीमती टेरिलिन की दूधिया शर्ट । वह धोती पहनकर जैसा दीखता था, इस वक्त उससे जरा भी मेल नहीं खाता था। अगर उसके नाम से पूर्व परिचित न हो, तो कोई उसके बंगाली होने का सन्देह नहीं कर सकता था।

जनरल मैनेजर उसकी विशेष अभ्यर्थना में कुर्सी छोड़कर हंसते हुए उठ खड़ा हुआ, "अरे, मिस्टर अधिकारी ! हमारे धन्य भाग्य !...आइये ! आइये !!"

उत्तर में वह भी मुसकरा दिया और सिर झटककर, मेरी बगल वाली कुर्सी खींचकर बैठ गया। इतनी देर बाद मेरे विस्मय की मूर्च्छा टूटी। उसे देखकर मेरी नस-नस में जो तिलमिलाहट भर गयी थी, उसे संयत करने के लिए मैं कुर्सी छोड़कर उठ खड़ी हुई। लेकिन उसके पहले ही शुद्ध अधिकारी ने हुक्म भरे अन्दाज़ में कहा, "उठने की ज़रूरत नहीं है। बैठ जाइये। मैं भी आपकी पब्लिसिटी फ़र्म के सिलसिले में आया हूं।" अचानक उसकी निगाह जनरल मैनेजर की तरफ़ उठ गयी "क्यों, साहब, हमारे फ़र्म को विज्ञापन मिलना बन्द क्यों हो गया ?"

जनरल मैनेजर मानो आकाश से गिरा, "आप लोगों की फ़र्म ? आप लोगों की ? यानी आपकी ?"

"हां, बस यूं समझिए कि सारा कुछ मेरा ही है, भई, मैं एक जगह नौकरी भी करता हूं न ? हर बात को हर कहीं गाना सम्भव है ? क्या हां तो बताइए, हम पर यह अचानक कोप-दृष्टि क्यों ?"

जनरल मैनेजर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं था, "सारा कुछ आपका ही है ? और आपके ही अखबार से उस तरह की रिपोर्ट निकली ?"

"अरे भई, हर रिपोर्ट जाने से पहले देखना सम्भव नहीं है न ? बहरहाल जिसने लिखा है, उसे सस्पेंड कर दिया गया। सम्भव है, उसे नौकरी से भी बाहर किया जाए।"

ये सब बातें मुझे असहनीय लग रही थीं, लेकिन उस वक्त चुपचाप बैठे रहने के अलावा और कोई उपाय नहीं था।

जनरल मैनेजर ने उसे एक बार फिर से सारी समस्या समझाने की

कोशिश की। शुद्ध अधिकारी उसकी बातें बड़े ध्यान से सुनता रहा, फिर फोन की तरफ अंगूठे से इशारा करते हुए कहा, "जरा मैनेजिंग-डाइरेक्टर से बात कराइये।"

मैंने गौर किया उसके निर्देश-पालन में कोई विलम्ब नहीं हुआ। जनरल मैनेजर ने डाइरेक्टर साहब को खबर दी कि कौन बात करना चाहता है। इसके अलावा वह यह हैरत-अंगेज खबर देना भी नहीं भूला कि यह हमारे दफ्तर के बेनामी अधिकारियों में से एक है। उसके बाद ही उसने रिसीवर बढ़ा दिया।

शुद्ध अधिकारी हाथ में रिसीवर लेकर यूं हंस-हंसकर बातें करने लगा, मानो अपने किसी अधीनस्थ कर्मचारी से बात कर रहा हो। उसने पहला सवाल किया कि लाल निशान देखते ही कहीं आग लगने के अन्देशे से घबरा क्यों गया है ? उसके बाद सार-संक्षेप में जो कहानी सुनायी, उसका अभिप्राय यही था कि किसी पार्टी की स्वार्थपूर्ण कारसाजी में फंसकर, एक नौसिखुआ रिपोर्टर यह कांड कर बैठा था। खैर, उसे इसकी सजा भी मिल गयी, लेकिन अगर इतना बड़ा बिजनेसमैन ऐसी मामूली-सी बात को लेकर इस तरह घबरा जायेगा तो लोग हंसेंगे ! मुमकिन है यह मजेदार कहानी किसी दूसरे अखबार में खूब नमक-मिर्च लगाकर छाप दी जाए। नहीं-नहीं, अखबार की क्या बात है ! अब किसी अखबार या इस तरह की किसी और गड़बड़ी के लिए जरा भी परेशान होने की जरूरत नहीं ! सारा जिम्मा शुद्ध अधिकारी का रहा ! अतः ...

अतः जो हुआ, उसे भी खामोश होकर देखना पड़ा। समस्या का निदान होते ही शुद्ध अधिकारी ने फोन जनरल मैनेजर की तरफ बढ़ा दिया। ऊपर वाले का आदेश सुनकर जनरल मैनेजर ने 'जो हुक्म' कहकर सिर हिला दिया और फोन रख दिया। उसने खुश-खुश आवाज में कहा, "कागज-पत्र तो सब पहले से ही तैयार हैं, दो मिनट में सारा इन्तजाम हो जाना है।"

खैर, दो मिनट की जगह करीब दस मिनट लग गये। इस बीच जनरल मैनेजर को धन्यवाद देकर शुद्ध अधिकारी किसी [illegible] व्यक्ति की तरह कमरे से बाहर चल दिया।

इस तरह दो-दो बार उसके जादू के करतब देखकर यानी प्रचार-योजना के अनुमोदन की फ़ाइल वगैरह लिये हुए मैं नीचे उतर आयी। पार्टी हाथ से फिसल नहीं पायी, इसमें लिए मुझे खुश होना चाहिए, लेकिन मेरे लिए यह भी सम्भव नहीं हुआ।

दरवान मुझे पहचानता था, अतः मैंने गाड़ी में ताला नहीं लगाया था। लेकिन गाड़ी के करीब आते ही मुझे अचकचाकर रुक जाना पड़ा। वह मूर्तिमान ड्राइवर की बगल वाली सीट में जमा हुआ था। मुझे देखकर वह मन्द-मन्द मुसकरा दिया। मुझे उसकी हंसी में कहीं भी बुद्धिमानी नजर नहीं आयी। मैंने अपनी फ़ाइल पिछली सीट पर फेंक दी और अपनी जगह आ बैठी। उसकी तरफ़ देखते हुए गम्भीर स्वर में पूछा, "जब प्रतीक्षा ही करनी थी, तो दफ़्तर के कमरे में न बैठकर, यहां बैठने का क्या तुक है?"

उसने रुक-रुककर जो जवाब दिया, वह सुनकर मैं जल-भुनकर राख हो गयी।

उसने कहा, "मैं उन लोगों की निगाह में महान् कामकाजी व्यक्ति हूं, अतः मेरा काम खत्म होने के बाद, मिनट-भर भी वहां न बैठना ही बेहतर था।"

मैंने गाड़ी स्टार्ट करते हुए दुबारा पूछा, "यानी सारी दुनिया को अपनी इन चालबाजियों के भरोसे चलाते हैं?"

उसने किंचित विस्मित होकर पूछा, "हां, इसी के भरोसे तो चल रही है। क्यों, आपको दिखायी नहीं देता?"

"इस तरह और कितने दिनों चलाने की उम्मीद करते हैं?"

"दुनिया-ज़माने का जो हाल-चाल है. मुझे उम्मीद है कि अभी काफ़ी साल मैं यूं ही आंख मूंदकर काट दूंगा। लेकिन...भई, बात क्या है? आपका काम भी कर दिया, फिर भी आप खुश नहीं हैं?"

"जिनको खुश होना चाहिए था, वे जरूर होंगे!"

"लेकिन मैं तो सिर्फ़ आपको ही खुश करना चाहता था। अरे, यह क्या कर रही हैं? आप गाड़ी जरा धीरे चलाइये। अब अगर दुबारा कोई मुसीबत आ पड़ी तो..."

"ड्राइविंग में मेरा हाथ अभी भी पक्का नहीं है, यह जान-सुनकर भी आपको मेरी गाड़ी में बैठने को किसने कहा था?"

मेरी झुंझलाहट देखकर या जाने क्यों उसकी निगाहें एकटक मेरे चेहरे पर स्थिर हो गयीं। उसके बाद लापरवाह लहजे में वह कह उठा, "तब तो चाहे जितना तेज चलाना हो, चलाइये। आपके साथ रहते हुए अगर कोई जोरदार एक्सिडेंट भी हो जाए, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

मैंने उसी तरह झुंझलाकर कहना चाहा, "देखिये, शुद्ध सत्त्वबाबू "

अचानक उसने मेरी बात काटते हुए कहा, "भई, यह 'सत्त्व' क्यों जोड़ दिया? मुझमें छोटाभर भी सत्त्व नहीं है।"

मैंने गुस्सा सम्भालते हुए व्यंग्य-बाण छोड़ा, "क्यों, शुद्ध क्या सत्त्व वर्जित है?"

वह हंस पड़ा। उसने कहा, "शुद्ध तो महज बाहरी आचार-भर है, लेकिन सत्त्व का सम्बन्ध तो आत्मा से होता है। आनुष्ठानिक आचार के मामले में मैं करीब-करीब शुद्ध हूं। इसके अलावा अपने नाम से सत्त्व-वर्जन का एक बहुत बड़ा कारण और भी है। जब मैं स्कूल में था तो 'स' के साथ 'त्व' को जोड़कर मैंने इस शब्द को सरल कर लेना चाहा था। इस कसूर पर मास्टर साहब ने समूची क्लास के सामने मुझे बेंच पर खड़ा कर दिया था। बस, उस दिन से मैं इस 'सत्त्व' को बर्दाश्त नहीं कर पाता।"

उसकी दास्तान सुनकर मुझे हंसी आनी चाहिए थी, लेकिन मेरी हंसी तो जल-भुनकर खाक हो गयी थी। मैंने कहा, "यही हाल रहा तो दो दिन बाद आप शायद शुद्ध भी बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे। खैर, आप यह जाने रहिये, कि यह पार्टी लौटा लाने का उपकार करके आपने मेरा सिर नहीं खरीद लिया।"

उसने निरीह भाव से जवाब दिया, "नहीं-नहीं, सिर क्यों खरीदूंगा। यह तो अपने पाप का थोड़ा-सा प्रायश्चित किया है।"

मुझे उसका मतलब समझ में नहीं आया, अतः मेरी प्रश्न-भरी निगाहें पलभर के लिए उसके चेहरे पर जा टिकीं। उसने बेहद निःसंकोच भाव से अपने गुनाह की व्याख्या कर डाली।

उसने कहा, "असल में अखबार में वह जो खबर छपी थी न...कि

विज्ञापन-फ़र्म की आड़ में रासलीला चलती है, उसे सजा-संवारकर, चटखारेदार बनाकर मैंने ही तो लिखा था ?"

अब मेरे अपने हाथों को स्टीयरिंग पर संयत रखना मुश्किल हो गया। मुझमें यह सोचने का भी धैर्य नहीं था कि वह आदमी कितना लापरवाह होगा, जो इस तरह की स्वीकारोक्ति का साहस रखता है। अब मुझे इसमें जरा भी संशय नहीं रहा कि अखबार के जरिए उस तरह के निर्लज्ज आक्रमण का एक मात्र लक्ष्य मैं ही थी।

मैंने बेहद ठंडी लेकिन सख्त आवाज़ में पूछा, "आपके इस महान् कृतित्व की खबर मंझले भइया या गुबल 'दा के कानों तक शायद नहीं पहुंची ?"

"अरे, मैं भला उन लोगों को यह बात बता सकता हूं ? वे लोग सुनेंगे तो आखिर क्या सोचेंगे ?"

"लेकिन अब जब सुनेंगे, तो क्या आपको सिर पर बिठाकर नाचेंगे ?"

उसने निहायत बेवकूफ़-सा खिसियाया हुआ चेहरा बनाकर सवाल किया, "मैंने आप पर भरोसा करके अपना सारा कसूर स्वीकार किया और आप उन लोगों को बता देंगी ?"

मैं मारे अचरज के जड़ हो आयी। अभी कुछ ही देर पहले उसने कम्पनी के जनरल मैनेजर से कहा था कि जिस आदमी ने यह रिपोर्ट लिखी थी, उसे सस्पेंड कर दिया गया है। बहरहाल, मैं जल्दी-से-जल्दी दफ़्तर पहुंचना चाहती थी। मैं तो बस, इसी बात से मन-ही-मन खिल गयी कि इस आदमी ने हमारा जो उपकार किया है, उसके लिए भइया लोगों को कृतज्ञ होने की ज़रूरत नहीं है।

मेरी तरफ़ से कोई जवाब न पाकर वह व्यक्ति भी मानो निश्चिन्त हो आया। उसने उमगती हुई आवाज़ में पूछा, "इतने दिनों तक आप लोगों से भेंट-मुलाकात नहीं हुई थी, लेकिन कहीं-न-कहीं से मेरे मन का संयोग जुड़ा हुआ था। मेरे बापी अपनी मौत से पहले तक आपको कितना-कितना प्यार करते थे, आपको इसका अन्दाज़ भी नहीं होगा और आपको लेकर मुझे उठते-बैठते डांटा करते थे। समझीं ?"

लेकिन इस वक्त मेरा मिजाज कुछ समझने की स्थिति में नहीं था

वरना मुझे प्यार करने की वजह से उसे क्यों डाटते-डपटते थे। मुझमें यह जानने की उत्सुकता जरूर होती। मुझे तो उल्टे यही लगा था कि यह आदमी जिस तरह सिर्फ दो दिनों की मुलाकात में बड़ी मां का चहेता बन बैठा था, इस वक्त भी शायद यही समझाना चाहता है। यानी वह अपने बापी के प्यार की चर्चा करके मुझे पिघलाने की कोशिश कर रहा है।

मुझे भरोसे लायक समझकर वह हंसते हुए बताता रहा, "इसीलिए मौका मिलते ही मैंने भी अखबार में ठोंक दिया। लेकिन सचमुच इतना कुछ लिखना अनुचित था।...बिजनेस में सच ही आपकी बुद्धि तेज है। उस दिन होटल की उस पार्टी में आपकी बातचीत सुनकर मुझे बहुत अच्छा लगा।"

मैंने ठंडा-सा जवाब दिया, "लेकिन मुझे अच्छा नहीं लगा था, इतनी-सी बात समझने की अक्ल आपमें थी या नहीं?"

"अरे, भला इतनी-सी बात भी नहीं समझता?" वह हंस पड़ा, "लेकिन मैं तो उसके पहले ही यह कांड कर गुजरा था। कमरे में आईने के सामने खड़ी होकर आपका मुसकराना, होंठ दबाना, लटें ठीक करना—अगर मैंने न देखा होता, तो आप मुझसे इस तरह खामखाह नाराज न होतीं, लेकिन आप ही बताइये, मैं क्या करता? मैं अपनी निगाहों को वहां से हटा ही नहीं पाया।"

पता नहीं ऐसा दुर्जेय साहस मैंने और किसी व्यक्ति में देखा था या नहीं! उसकी तरफ एक बार गौर से देखने के लिए मैंने गाड़ी की स्पीड शायद धीमी कर दी थी...

दफ्तर में सभी लोग मुकुल 'दा के कमरे में बैठे थे। मझले और छोटे भइया के अलावा, सीता दत्त भी वहीं थी। मेरे साथ शुद्ध अधिकारी को देखकर वह यूं चौंकी मानो कुछ अप्रत्याशित देख लिया हो। उसने हंसकर दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उत्तर में शुद्ध अधिकारी ने भी हंसकर सिर हिला दिया।

मुकुल 'दा ने उद्ग्रीव कंठ से पूछा, "क्या कर आये? काम बना?"

फ़ाइल रखते हुए मैं शुद्ध अधिकारी की बगल वाली कुर्सी खींचकर

बैठ गयी, 'हां बन गया' यह कहते हुए मैंने मीता दत्त की ओर मुड़कर देखा। मेरे देखने का आशय स्पष्ट था। मीता कागज़ समेटकर उठ खड़ी हुई और कमरे से बाहर निकल गयी।

अब मैंने बेहद धीमी और निश्चिन्त आवाज़ में अपनी बात शुरू की, "हां, प्लान स्वीकृत हो गया है, लेकिन इसमें मैंने कुछ नहीं किया। मैनेजिंग डाइरेक्टर के निर्देश पर हमारा काम रोक दिया गया था, शुद्ध बाबू ने मैनेजिंग डाइरेक्टर को फ़ोन करके सारा मामला ठीक-ठाक कर दिया।"

सुबल 'दा, मंझले और छोटे भइया की उद्‌भासित आंखें शुद्ध अधिकारी की तरफ़ मुड़ गयीं।

मैंने कहा, "असल में यह उपकार करके शुद्ध साहब ने अपने पाप का प्रायश्चित किया है...उनके अखबार में मिर्च-मसालेदार जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, वह उन्होंने ही लिखी थी...और सब-कुछ जान-समझकर ही लिखा था।"

कमरे के तीनों लोग सकते में आ गये। लेकिन उसी समय पल-भर मुझे भ्रम हुआ कि शुद्ध अधिकारी ने मुसकराते हुए अपना सिर ज़रा पीछे कर लिया, और उन लोगों से इशारे में कुछ कहा। मैंने फ़ौरन उसकी तरफ़ घूमकर देखा।

उसकी आंखों और चेहरे-मोहरे से हंसी मानो फूट पड़ रही थी। उसने छूटते ही कहा, "वह रिपोर्ट लिखने की वजह से बेचारा संजीव बोस सस्पेंड कर दिया गया और मेरे पीछे घूमते-घूमते उसने अपने जूते के तल्ले घिस डाले। अच्छा, तुम्हीं लोग बताओ, सुबल 'दा, उस मैनेजिंग डाइरेक्टर को घायल करके काम वसूल कर लेने के बाद भी, अगर किसी के चेहरे पर हंसी के बजाय नाराज़गी ही दीखे तो ज़रा-सा और चिढ़ा देने का मन नहीं करेगा ?"

सुबल 'दा, मंझले और छोटे भइया होंठों में हंस दिये मानो कोई बेहद मज़ेदार कांड हो गया हो। मुमकिन था, मेरे मुंह से ऐसा कुछ निकल जाता, जिससे खुद अपनी ही इज्जत गंवा बैठती अतः मैं बिना कुछ कहे-सुने सीधे अपने कमरे में चली आयी।

करीब आधा घंटा बाद ही, वही कुढ़ाने वाली मुसकान लिये वह मेरे

कमरे में हाज़िर हुआ। कमरे के एक कोने में मीता दत्त की टेबल थी। उस पर एक नज़र डालते हुए वह मेरी मेज के बिलकुल करीब चला आया और उसने अतिशय धीमी आवाज़ में कहा, "मैंने गाडी में आपसे जो कुछ कहा था, सच कहा था! रिपोर्ट मैंने ही लिखी थी, लेकिन भगवान के लिए, कृपया इस बार माफी दे दें। अब यह बात कहकर दुबारा मुझे फंसा मत दीजियेगा।"

यह जाहिर था कि ऐसी स्थिति में मेरे धीरज का बांध लगभग टूटने ही वाला था। मेरी जलती हुई निगाहें उसके गोरे चेहरे को टुकड़े-टुकड़े कर देने को आतुर हो उठीं। लेकिन इससे पहले ही वह मीता दत्त की तरफ मुड गया और उससे बेहद अंतरग में पूछने लगा, "क्यों मीता भाभी, सब कुछ मंगल है न?"

मैंने गौर किया मीता दत्त संकोच और शर्म से कुर्सी छोड़कर उठ खड़ी हुई और सिर हिला दिया।

उसने भी पूछा, "आप ठीक हैं?"

"एकदम अच्छा। तो चलूं, भाभी?"

वह बेहद व्यस्त भाव से कमरे से बाहर निकल गया।

मीता दत्त ने दुविधा छोड़कर पूछ ही लिया, "क्या हुआ है, दीपू 'दी?"

मीता के साथ मेरी भी गहरी अंतरगता थी। वह मुझे अच्छी ही लगती थी। लेकिन मैंने अपनी झुंझलाहट दबाते हुए उत्तर दिया, "कुछ नहीं!" थोड़ा ठहरकर मैंने दुबारा सवाल किया, "इस आदमी को तुम कैसे जानती हो?"

मीता ने मिनमिनाते हुए सफाई दी, "सुवल 'दा के साथ ये भी कभी-कभी हमारे यहां आया करते थे। बेहद भले आदमी हैं।"

मीता की तरफ से उसे यह सर्टिफिकेट दिये जाने पर मेरे गुस्से में जैसे दुबारा उबाल आ गया, लेकिन मैंने उसे किसी तरह दबा दिया।

इसके उपरान्त दफ्तर के अलावा घर में भी उस व्यक्ति का आना-जाना और अत्याचार क्रमश बढ़ता ही गया। उसे देखते ही बड़ी मां के

गंभीर चेहरे पर हंसी फूट पड़ती थी। मेरे लिए मुश्किल यह थी कि उसका यह अधिकाधिक आना-जाना किसी को भी अत्याचार नहीं लगा था, बल्कि उसे इस परिवार और हमारे व्यवसाय का एक अंतरंग शुभार्थी मान लिया गया था। वैसे यह बात सच भी थी कि उसने दो-तीन बड़ी-बड़ी पार्टियों से हमारी जान-पहचान करवा दी थी। लेकिन मेरे लिए उस आदमी को बर्दाश्त कर पाना दिनों-दिन मुश्किल होता जा रहा था। इन दिनों मेरे प्रति उसका व्यवहार क्रमशः लापरवाह होता जा रहा था और उसकी आड़ में छिपा हुआ उसका आन्तरिक अभिप्राय भी अनावृत होता जा रहा था।

इधर कई दिनों से मैं महसूस कर रही थी कि सुबल 'दा के मन में कोई नयी इच्छा जाग उठी है। उनका प्रस्ताव था कि शुद्ध अधिकारी जैसे प्रतिष्ठापन्न व्यक्ति को अविलम्ब अपनी फ़र्म में शामिल कर लेना चाहिए। इसमें शायद उसे भी कोई आपत्ति नहीं होगी। बल्कि उससे कहा जाये तो वह अत्यंत आग्रहपूर्वक शामिल होना चाहेगा। नौकरी के क्षेत्र से बाहर अगर किसी काम में उसे अतिरिक्त आय की संभावना न हो तो इस तरह आखिर वह कितने दिनों हमारा काम करेगा? अखबार की दुनिया में चाहे उसकी जितनी भी कद्र हो, लेकिन तनख्वाह तो ऐसी कोई खास नहीं है। आजकल जो ज़माना आया है, अतिरिक्त आमदनी हर कोई करना चाहता है।

खैर, मेरा भी यही खयाल था कि आर्थिक मामले में शायद वह कुछ अपेक्षा करता भी था। लेकिन मुझे इसमें भी सख्त एतराज़ था।

मैंने कहा, "अगर वह हमारा कोई काम कर देता है, तो उसे उचित कमीशन दे दिया जाये, लेकिन इसके लिए उसे कम्पनी का हिस्सेदार बनाने की क्या ज़रूरत है? इसके अलावा इस कम्पनी की असली मालकिन तो अभी भी बड़ी मां ही हैं अतः किसी के हिस्से-बंटवारे का सवाल ही कहां उठता है?"

सुबल 'दा ने कहा, "आज या कल, यह सवाल तो खैर उठने ही वाला है! वह दिन आये, उससे पहले ही मैं कोई..."

न जाने क्यों, मुझे सुबल 'दा का यह मंतव्य भी अच्छा नहीं लगा।

लेकिन कुछ दिनों बाद ही मुझे उनके मतव्य का सही-सही अर्थ समझ में आ गया। सुबल 'दा ने ही मुझे चोरी-चोरी बताया कि कम्पनी के हिस्से के बटवारे के लिए मझले भइया के अलावा छोटे भइया भी उत्सुक है। मैं समझ गयी, यह प्रस्ताव निश्चय ही मझले भइया के ऍटर्नी श्वसुर महोदय की तरफ से पहुंचा है। मझले भइया और साथ ही छोटे भइया की तरफदारी करने वाले असली व्यक्ति वही थे।

मैंने कहा, "लेकिन मुझे तो नही लगता कि छोटे भइया का उस घर मे कोई खास आना-जाना है।"

सुबल 'दा ने जवाब दिया, "खैर, घर से तुम नही देखती, लेकिन बाहर उसका आना-जाना घटने के बजाय बढता जा रहा है। उनके ऍटर्नी श्वसुर महोदय का खयाल है कि बडी मा की तबीयत दिनों-दिन गिरती जा रही है। अत अब अदालती लिखा-पढी हो ही जानी चाहिए।" सुबल 'दा ने ही बताया कि शुद्ध अधिकारी को अपने बिज़नेस मे शामिल करने मे सुदीप और प्रदीप को खास आपत्ति नही है। वे लोग उसे करीब-करीब पसद ही करते हैं। लेकिन अपने ऍटर्नी श्वसुर की सहमति न मिल पाने की वजह से कुछ नही कर पा रहे हैं।

कम-से-कम इस एक मामले मे मैंने मन-ही-मन मझले भइया के ऍटर्नी श्वसुर का ही समर्थन किया। लेकिन शुद्ध अधिकारी को अपनी कम्पनी मे शामिल करने के लिए सुबल 'दा का इतना आग्रह देखकर मैंने उस वक्त अपनी जुबान से कुछ नही कहा। सुबल 'दा को यह नही मालूम था कि इस मामले मे सबसे जबरदस्त धक्का शायद मेरी ही तरफ से मिलता। उनकी कोशिशें लगातार बढती ही गयी।

मैंने गौर किया कि जाने इसी बात की वजह से या किसी और वजह से कम्पनी के कामो को लेकर मझले और छोटे भइया के साथ सुबल 'दा का विरोध होने लगा। पहले जिन मामलों मे वे आखें मूदकर सुबल 'दा की हा मे हा मिला देते थे, अब उन्हे देखकर भी बक-झक शुरु हो गयी। सुबल 'दा काफी बुद्धिमान थे, अत मन-ही-मन वे भी कुड़बुडा रहे थे, यह साफ़ ज़ाहिर था।

अत मझले और छोटे भइया से मैं बुरी तरह नाराज़ थी। हालांकि

इस बारे में बात उठाते ही, बात बढ़ जायेगी, इसलिए मैं जुबान से कुछ नहीं कहती थी। हुंह:, श्वसुर या भावी श्वसुर का ऐसा ज़रखरीद गुलाम होते मैंने किसी को नहीं देखा।

उन दिनों जबकि मेरा पारा सातवें आसमान पर चढ़ा हुआ था, बड़ी मां की ज़ुबानी एक और खबर सुनकर मैं बुरी तरह चिन्तित हो उठी।

बड़ी मां अचानक बीमार पड़ गयी थीं, लेकिन उस शाम मुझे किसी ज़रूरी काम से बाहर निकलना ही पड़ा। शाम को जब घर लौटी तो देखा बड़ी मां के कमरे में खासी भीड़ जुड़ी हुई है। कमरे में मंझले और छोटे भइया के अलावा सुबल 'दा, माधुरी और शुद्ध अधिकारी भी थे।

मैंने जैसे ही कमरे में कदम रखा, आखिरी व्यक्ति ने मेरी तरफ़ लगभग आंख तरेरकर कहा, "लो, आ गयीं! सुनो, अब से तुम्हें दीपू कहकर पुकारा करूंगा, समझी? हर मैजेस्टी से हुक्म मिल गया है, अब मुझे तुम्हारे गुरु-गम्भीर चेहरे की कतई परवाह नहीं है।"

मेरे अलावा कमरे के सभी लोगों ने जोर का ठहाका लगाया। बड़ी मां मेरी ओर देखते हुए ईषत् सकपका गयीं। उन्होंने इस तरह के हुक्म के लिए मानो सफ़ाई देते हुए कहा, "इसने तब से दीपिका देवी, दीपिका देवी की रट लगा रखी थी। सुनते-सुनते मेरे कान पक गये! यह दीपू भी तो कह सकता है।"

मैंने उसी तरह गम्भीर आवाज में बड़ी मां से पूछा, "तुम्हारे लिए क्या आज भी फलों की टोकरी आयी है?"

"तू भी न, कैसी बातें करती है? अब तू उस पगले को उकसाने चली है।"

शुद्ध अधिकारी ने कहा, "लेकिन असली बात का फ़ैसला तो हुआ ही नहीं। अब मैं चाहे तुम्हारा नाम लेकर पुकारूं या 'तुम' कहकर बात करूं, इसमें तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है?"

मैंने उसे मुंह पर ही डांटते हुए कहा, "हां, है!"

"क्यों? अरे भई, मैंने तो तुम्हें इत्ती-सी...फ्राक पहने हुए देखा है।"

मैंने उसकी ओर घूरते हुए कहा, "मैंने भी तुम्हें हाफ़-पेन्टुल पहने हुए देखा है।"

शुद्ध अधिकारी गंभीर हो आया, "ठीक है! तब फिर समझदार की तरह एक समझौता हो जाये। चलो, अब से दोनों को यह अधिकार है कि वे एक-दूसरे को तुम-तुम कहें! असल बात यह है कि मैं मौसी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता।...खैर, अब मैं भागूं। मौसी, अगर मैं इसके बाद भी ठहरा रहा तो मेरी किस्मत में काफी दुर्योग है।"

और वह हंसते-हंसते उठकर चला गया। उसके जाते ही बड़ी मां के कमरे की महफ़िल भी तितर-बितर हो गयी। हर कोई काम का बहाना करके वहां से खिसक गया।

मेरा मिजाज उस वक्त भी चढ़ा हुआ था। मैंने बड़ी मां के जरा पास जाकर तीखी खिजलाहट में पूछा, "तुम इस आदमी को इतना प्रश्रय क्यों देती हो?"

बड़ी मां ने भी उसी तरह तीखी आवाज में जवाब दिया, "भला तुझे ही उससे ऐसी क्या नाराजगी है? सोने के टुकड़ा जैसा लड़का! देखते ही आंखें जुड़ा जाती हैं। जब वह अपने बापू की बातें छेड़ता है तो कान लगाकर बस सुनते रहने का मन होता है।"

"अपने पिता की बातें छेड़-छेड़कर वह तुम्हें बहकाये रहता है, तुम इतना भी नहीं समझतीं?"

"लो, इसकी बात सुनो! अरे, भला वह मुझे क्यों बहकाने लगा?"

मैं उनके मुंह पर चाहकर भी इसकी वजह नहीं बता पायी। मैं गुस्से में भन्नायी हुई कमरे से बाहर निकल ही रही थी कि बड़ी मां ने रोक लिया, "सुन, हर वक्त खामखाह नाराज क्यों होती रहती है? चल, इधर आ! कुछ बात करनी है।"

अगले पल ही बड़ी मां बेहद परेशान दिखायी दीं।

उनके पास खड़े होते ही, उन्होंने कुछ ठहरकर पूछा, "इधर का हाल कुछ मालूम है?"

मुझे सारी बात पहेली-सी जान पड़ी। मैंने प्रश्न-भरी निगाहों से बड़ी मां की तरफ़ देखा।

बड़ी मां ने थोड़ा रुक-रुककर कहा, "सुदीप-प्रदीप की इच्छा है कि अब मैं वसीयत लिख दूं। असल में यह इच्छा सुदीप के ससुर की है!...

वापसी

सुवल की करतूत देखकर ही शायद उन्हें चिन्ता हो गयी है कि कहीं ऐसा न हो कि मैं अपने वाद उसे भी जायदाद में वरावर का हिस्सा न दे जाऊं।"

यह सुनते ही अनजाने में मेरे दिमाग में एक विचार कौंध गया। मुमकिन है मंझले भइया के श्वसुर मेरे वारे में भी चिन्तित हो उठे हों, लेकिन वड़ी मां अपने मुंह से यह वात नहीं कह पा रही हैं। माधुरी को मैं फूटी आंखों भी नहीं सुहाती। अतः उसके पिता मुझ पर अकारण ही स्नेह क्यों दिखाने लगे? खैर, मुझे अपने वारे में वेवजह परेशान नहीं होना चाहिए। वड़ी मां के रहते मेरे वारे में किसी को भी वोलने की हिम्मत नहीं होगी। लेकिन इधर सुवल 'दा के प्रति मंझले और छोटे भइया का व्यवहार यूं वदलता क्यों जा रहा है, इसका ठीक-ठीक सुराग नहीं मिल पा रहा था। इसीलिए मुझे परेशानी हो रही थी।

मैंने पूछा, "तुमसे किसने कहा?"

"सुवल ने! सारी समस्या उसी को लेकर है, यह वात मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पायी थी। उसकी भी यही राय है कि वसीयत कर देना जरूरी है और वेहतर हो अगर शुद्ध को भी इस विजनेस में खींच लाया जाये। उसका कहना है कि इसमें हर तरह से भलाई है।"

आखिरी वाक्य सुनकर मैं सुवल 'दा पर जल-भुन गयी। लेकिन फिर खयाल आया कि हो सकता है, भाइयों का इरादा समझकर ही वे अपने दल के व्यक्ति को हिस्सेदार वनाकर शामिल करना चाहते हों! अगर वे सचमुच इसी आशंका से सहम गये हैं, तो मैं कहूंगी कि उन्होंने वड़ी मां को अभी तक नहीं पहचाना!

मैंने अपने से सारी वातें झटककर निकाल देने की कोशिश करते हुए कहा, "मेरा खयाल है, फिलहाल तुम अपनी तवीयत सुधारने की फिक्र करो! और किसी वारे में सोचने या परेशान होने की ज़रूरत नहीं है।"

लेकिन दूसरी तरफ़ से परेशानियां वढ़ती ही जा रही थीं। शुद्ध अधिकारी का आना-जाना जैसे कार्यक्रम वन गया था। उसके अखवार का दफ़्तर लगभग शाम को खुलता था। वह शाम को कितनी देर के लिए दफ़्तर जाता था, यह वही जाने! हमारे दफ़्तर में वह नियमित रूप से

हर सुबह हाजिरी लगाने पहुच जाता था। मेरी निगाहों से यह भी छिपा नही था कि सुबल 'दा मौके-बेमौके उसके कंधे पर अब बडी-बडी जिम्मेदारियां सौंपने लगे थे। भाई लोग अपनी इच्छा या अनिच्छा के बावजूद सुबल 'दा के सामने उसका विरोध नही कर पाते थे। इसके अलावा उस व्यक्ति की कार्य-क्षमता को अस्वीकार न कर पाने की वजह से वे लोग मन-ही-मन शायद सहम भी गये थे।

लेकिन मेरे लिए उसका रोज-रोज का आना-जाना असहनीय हो उठा। दफ्तर में मेरी एक निजी मान-मर्यादा थी। वह मानो उसे भी धूल में मिला देना चाहता था। मीता के सामने या अन्य लडकियों के सामने वह अकसर कोई-न-कोई हल्का-सा-हसी-मजाक कर बैठता था। मेरे फैसलों को कैसे रद्द किया जाये, अब उसका दिमाग अकसर इन्ही खुराफातों में उलझा रहता था। कभी-कभी तो मुझे भी यही गलतफहमी होने लगी थी कि वह कुछ अतिरिक्त रोजगार की उम्मीद में इतना कामकाजी बनने का ढोंग रच रहा है। लेकिन कभी-कभी उसका इरादा कुछ और ही लगता था।

इधर बडी मा दिनों-दिन जिस रफ्तार से उस पर सदय होती जा रही थी, मेरे लिए वह भी एक परेशानी का कारण था। उसकी कार्य-दक्षता का प्रशंसा-पुराण सुबल 'दा ही बडी मा को बढा-चढ़ाकर सुनाया करते थे।

एक दिन मझले भइया ने बेहद चिन्तित मुद्रा में बताया, "सुबल की इच्छा है कि हम लोग शुद्ध को भी अपनी कम्पनी में हिस्सेदार बना लें। लगता है मा को भी इसमें खास एतराज नहीं है।"

मैंने पूछा, "लेकिन तुम्हारी क्या राय है?"

"भई, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता! लगता है सुबल ने अपनी तरफ से उसे कोई आश्वासन दे डाला है! तेरा क्या खयाल है?"

मेरे मन में काटे से काटा निकाल फेंकने की एक तरकीब खेल गयी। मैंने जवाब दिया, "अभी तो सिर्फ सुबल 'दा की करतूतें ही तुम लोगों के बर्दाश्त के बाहर है, ऊपर से एक और आदमी भी आ जुटे तो तुम लोगों को सहन होगा? यह बात तो तुम लोग भी समझते हो, कि शुद्ध अधिकारी

चाहे और जो कुछ भी हो, लेकिन बेवकूफ़ तो हरगिज़ नहीं है। इसलिए यह बात अच्छी तरह जान लो कि अगर एक बार सिर पर चढ़ाया तो उसे हटाना असम्भव होगा।"

मंझले भइया के संशय की पर्तें जैसे चिथड़े-चिथड़े होकर बिखर गयीं। उन्होंने मेरी तरफ़ सराहना भरी दृष्टि से देखते हुए कहा, "वही तो!... तब तू ही सुबल 'दा को समझा न।"

"उससे काम नहीं बनेगा...वैसे इसकी जरूरत भी नहीं है। तुम लोगों को असली आशंका तो बड़ी मां की तरफ़ से है न?"

"तो मां को ही समझा न?"

"क्यों? तुम लोग नहीं समझा सकते? बड़ी मां का तो खयाल है कि मैं उस शख्स के प्रति खामखाह ही आग बनी रहती हूं।"

खैर, अगले दिन मैं निश्चिन्त हो गयी। शुद्ध अधिकारी को हिस्सेदार बनाने की सम्भावना पर मानो पानी फिर गया। अगले दिन सुबल 'दा बेहद गम्भीर दीखे। हो सकता है मंझले भइया की उससे कोई बातचीत हुई हो।

कई दिन बाद मंझले भइया ने मुझे हंसते हुए बताया कि शुद्ध के साथ उसकी खुल्लमखुल्ला बातें हो गयीं। अपने कामों के बदले में नकदी दक्षिणा पाकर ही उसे खुशी होगी। इससे अधिक की वह कतई उम्मीद नहीं रखता!

मैंने मन-ही-मन सोचा, असल में उसकी नज़र बस उतने तक ही सीमित है, अतः इससे अधिक की उम्मीद भी वह कहां से करेगा? खैर, मैंने मन-ही-मन संकल्प किया कि जितनी जल्दी हो सके, उसकी नकदी-दक्षिणा की उम्मीद पर भी पानी फेरना होगा।

लेकिन इसके बाद ही मैंने गौर किया कि मंझले और छोटे भइया के साथ शुद्ध अधिकारी की अन्तरंगता द्रुत गति से घनिष्ठ हो उठी। उसके घर में कदम रखते ही माधुरी भी उसका हंसकर स्वागत करती है, अपने हाथों से उसके लिए नाश्ते की प्लेट सजाकर लाती है। शुद्ध अधिकारी भी बेशर्म की तरह बात-बात में उसकी उच्छ्वसित प्रशंसा और खुशामद करने में जुटा रहता था।

इधर मुवल 'दा उसी अनुपात मे क्रमशः गम्भीर होते जा रहे थे।

इन सबको छोड भी दिया जाये तो सिर्फ मुवल 'दा के लिए ही मेरे मन मे जाने कैसी अज्ञात आशकाए और दुश्चिन्ताएं जाग उठी थी।

हमारा पारिवारिक और व्यावसायिक चित्र मानो किसी द्रुत परिवर्तन के मोड पर आ खडा हुआ था।

बडी मा के शरीर के कल-पुर्जे रह-रहकर विगडने लगे। शायद इसी वजह से वह हर वक्त अतिशय गम्भीर रहने लगी थी। अपने बेटी की बातों में आकर मुवल 'दा से भी इधर थोड़ा-बहुत रुष्ट रहने लगी थी। इन दिनों वजह-बेवजह मुझ पर भी विगडने लगी थी। उस दिन दफ्तर के कामो के बारे मे सलाह-मशविरा चल रहा था कि वे अचानक कमरे मे दाखिल हुई और मुझ पर बुरी तरह वरस पडी। उन्होंने भभककर कहा, "हर वक्त दफ्तर के कामो में मस्त रहती है, इधर मैं जो मरने बैठी हू, उसका भी होश है? तू क्या सोच रही है, मैं तुझे भी इस विजनेस मे बिलकुल स्वर्ग-आसन पर बिठा जाऊगी?"

मैंने भी लहककर जवाब दिया, "तुम्हारे बिठाने-न-बिठाने मे मेरा कुछ आता-जाता नही है।"

बडी मा मानो मुझे भस्म करती हुई कमरे से बाहर निकल गयी।

एक दिन वह अचानक ही पूछ बैठी, "अच्छा, तेरे दफ्तर मे मीना दत्त नामक कोई ब्याहता औरत भी काम करती है?"

मैं मानो आकाश से गिरी, "हा, करती तो है। क्यो?"

"कितने दिनों से काम कर रही है?"

"बहुत दिनों से।"

"कितनी तनख्वाह लेती है?"

"यही करीब चार-सौ रुपये! लेकिन तुम ये सब बातें क्यो पूछ रही हो?"

बडी मा बिगड उठीं, "मेरी खुशी! मैं पूछूगी! बिजनेस की मालकिन अभी भी मैं ही हू! मुझे कोई बात जानने की जरूरत नही पड सकती?

अच्छा, वहां क्या और लड़कियां भी काम करती हैं ?"

"हां, दो लड़कियां और हैं !"

वड़ी मां दुवारा भभक उठीं, "क्यों, देश-भर में पुरुष कर्मचारियों का अकाल पड़ गया है ? ये लड़कियां पकड़-पकड़कर क्यों लायी गयी हैं ? यह सब उसी सुवल की करतूत है न ?"

मैं अवाक् रह गयी।

मीता दत्त या अन्य किसी भी लड़की के साथ सुवल 'दा को कभी गलत तरीके से पेश आते नहीं देखा। लड़कियां तो उनसे ही सबसे अधिक डरती थीं और उनकी इज्ज़त करती थीं।

वड़ी मां से सुवल 'दा के खिलाफ़ जाने किसने लगाई-बुझाई की थी।

इधर सुवल 'दा को हर वक्त चिन्ताग्रस्त और मुर्झाया हुआ देखकर मुझे तकलीफ़ हो रही थी।

उस दिन मैंने उनसे अकेले में पूछा, "तुम्हें क्या हुआ है, मुझे साफ़-साफ़ वताओगे ? आखिर तुम इतना क्या सोचते रहते हो ?"

सुवल 'दा ने हंसने की कोशिश की, "ना ! अभी भी कुछ हुआ नहीं ! लेकिन शायद अव वहुत जल्दी ही कुछ होने वाला है।...यह शुद्ध अधिकारी वड़ा भयंकर आदमी निकला, समझी ? उसे अपने यहां जगह देकर मैंने गलती की।"

अभी कई दिनों पहले तक यही सुवल 'दा शुद्ध अधिकारी को एक-वारगी हिस्सेदार वनाने को उतावले हो उठे थे। लेकिन मेरे मन में एक कुटिल खयाल खेल गया। मैंने पल-भर को उनका चेहरा पढ़ते हुए पूछा, "क्यों, तुम्हें शक है कि उसने वड़ी मां से तुम्हारे खिलाफ़ कुछ कहा है ?"

सुवल 'दा चौंक पड़े, "क्यों ? मौसी से वह क्या कहने जायेगा ?"

मैंने अपना खयाल दवाते हुए पूछा, "तव तुम इतना क्या सोचा करते हो ?"

"वताऊंगा, वाद में वताऊंगा ! एकमात्र तू ही तो है, जिससे मैं सव-कुछ कह सकता हूं।" उस दिन वे व्यस्तता का वहाना वनाकर वहां से खिसक गये।

कई दिनों वाद ही मैंने देखा, वड़ी मां के कमरे में मीटिंग वैठी है।

मझले भइया के पैंटर्नी श्वसुर भी वहीं थे। उनके अलावा मंझले और छोटे भइया तो वहां पहले से ही थे।

मुवल 'दा चिन्तित भाव से नीचे चहलकदमी कर रहे थे। मुझे देखते ही उनके चेहरे पर सूखी-सी हंसी खेल गयी, "ऊपर बिज़नेस की ज़िम्मेदारी के बारे में बातचीत चल रही है। लगता है, यहां मेरे दिन अब पूरे हुए।"

मैं पल-भर को स्तब्ध रह गयी।

मुवल 'दा ने दुबारा कहा, "मौसी अब तुम्हारे बारे में भी कुछ और सोच रही हैं। हो सकता है तुम्हें भी अब सीधे-सीधे हिस्सा न दिया जाये।"

मैं थोड़ी देर को चुप हो रही। अचानक मैंने निहायत सूखी आवाज़ में पूछा, "अगर ऐसा हो भी गया, तो भी तुम परेशान मत हो! हम और तुम मिलकर कोई नया बिज़नेस खड़ा कर लेंगे। बाज़ार में हम लोगों का व्यक्तिगत परिचय उनसे कुछ कम नहीं बल्कि अधिक है।"

मुवल 'दा ने मानो अंधेरे में सुराग पा लिया हो! उन्होंने आग्रह भरे स्वर में कहा, "हां, वह तो खैर है ही। तुम अगर साथ दो तो हम उनसे कुछ बेहतर ही कर दिखायेंगे। एक दिन मिस्टर भानु से भी इस बारे में बातचीत हुई थी। असाधारण भले आदमी हैं। अगर हम कोशिश करें तो उस आदमी को अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं।"

हमारी ग्राहक कम्पनी का वही मैनेजिंग डाइरेक्टर!...वही महेश्वर भानु करोड़ों रुपयों का मालिक! इन दिनों बीवी के साथ मुकदमा चल रहा था, इस वजह से उसने डर के मारे हमें काम देना बन्द कर दिया था।

मुवल 'दा मेरे और नज़दीक खिसक आये और आग्रह भरे स्वर में लगभग फुसफुसाते हुए कहा, "लेकिन तुमको अपना वादा याद रहेगा न?"

"हां, तुमने जो कुछ बताया है, अगर वह सच हुआ, तो मेरा वादा रहा..."

मझले भइया के श्वसुर के जाते ही मैं बड़ी मां के कमरे में चली

आयी।

मुझे लगा कोई जोरदार सलाह-मशविरा चल रहा था।

छोटे और मंझले भइया अचानक खामोश हो गये। माधुरी ने दूसरी तरफ़ मुंह फेर लिया।

बड़ी मां ने झुंझलाकर कहा, "तू क्यों हर बात में नाक गलाने लगती है?"

"नहीं, हर बात में नहीं! कहीं तुम सुबल 'दा को लेकर तो किसी समस्या में नहीं पड़ गयी हो? बस, यही जानना चाहती थी।"

बड़ी मां ने एकाएक उग्र रूप धारण करते हुए कहा, "तुझसे क्या मतलब? तू जाकर अपने बारे में सोच।"

"मेरे बारे में इतने दिन तुम ही सोचती आयी हो। लेकिन अब तुम यह कहना चाहती हो कि अब अपने बारे में मुझे खुद ही सोचना चाहिए?"

"क्या...? क्या कहा तूने?" बड़ी मां मारे उत्तेजना के बैठ गयीं। मंझले और छोटे भइया सकपका गये। मैं कमरे से बाहर चली आयी।

यह कलह शांत होने का मौका ही नहीं मिला। इसी बीच बिजनेस में एक भयंकर झमेला उठ खड़ा हुआ।

किसी दवा के कारखाने से गर्भवती स्त्रियों के सेवन के लिए एक पौष्टिक दवा बाजार में अभी नयी-नयी आयी थी। उस कारखाने के प्रचार-संबंधी सारी ज़िम्मेदारी हमारी फ़र्म पर थी। मैंने अपने आर्टिस्ट को निर्देश दिया कि वह उस दवा में कोई ऐसी नयी बात खोज निकाले, जिस पर नजर पड़ते ही एकदम से नजर टिक जाये। आर्टिस्ट ने दिमाग लगाकर जो विज्ञापन बनाया वह सचमुच बिलकुल नया-नया लगा। इसी बंगाल के ही कोई महापुरुष, जो दुनिया-भर में मशहूर हैं—उनकी तसवीर के सामने एक सुन्दरी विवाहिता तरुणी हाथ जोड़कर प्रार्थना की मुद्रा में कह रही है, "मुझे तुम्हारे-जैसी सन्तान चाहिए।" और उनके पास वाली मेज़ पर दवा की वही शीशी रखी हुई है।

मुझे पक्का विश्वास हो गया था कि यह विज्ञापन-चित्र गर्भवती

स्त्रियों और भावी माताओं की दृष्टि आकर्षित करेगा।

लेकिन इस विज्ञापन को लेकर जो भयकर तूफान मचा, उसे देखकर मैं विमूढ रह गयी। अखबारों में भी उसकी कटु आलोचनाएं निकलीं। हमारे नाम खूब-खूब गालियां दी गयीं। एकमात्र उसी अखबार ने चूं तक नहीं की, जिसके साथ शुद्ध अधिकारी का नाम जुड़ा हुआ था। हर तरफ से टिटकारियां दी जाने लगीं।

उन महापुरुष के पिछले स्वत्वाधिकारियों की तरफ से वकील का आक्रोशयुक्त नोटिस आ पहुंचा। हम लोग सिर पकड़कर बैठ गये। उधर दवा के कारखाने के मालिकों की घुड़की! उनका कहना था कि उस विज्ञापन की वजह से हमने उनकी दवा के बारह बजा दिये। अब उनको भला यह कौन समझाये कि विज्ञापन की उस तसवीर के लिए उन्होंने भी अपनी सहमति दी थी।

अब दफ्तर में शुद्ध अधिकारी का दोनों वक्त पदार्पण होने लगा। अगर इस समस्या को जड़ से नहीं मिटाया गया तो बदनामी होगी, उससे कम्पनी बन्द होने की भी नौबत आ सकती थी। उसी की सलाह के अनुसार वह विज्ञापन तो खैर बन्द ही कर दिया गया, उसकी जगह कुछ अधिक बुद्धि खर्च करके एक खूबसूरत तरुणी की तसवीर बनायी गयी। उस तसवीर में किसी दवा का नामोनिशान नहीं था। नीचे कोने में सिर्फ उस दवा-प्रतिष्ठान की शुभेच्छा लिखी हुई थी। उस तसवीर में वह औरत सिर्फ प्रार्थना कर रही है, "हे प्रभु, तुम्हारे चरणों के आश्रय में विश्व-संसार को मुक्ति मिले।"

उस तसवीर में सच ही शुचिता का ऐसा पावन स्पर्श था कि दृष्टि एकबारगी आकर्षित हो जाती थी।

इसके बाद शुद्ध अधिकारी के अखबार में, पिछले विज्ञापन के बारे में उसी के नाम से एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। उसमें उसने उस विज्ञापन के अनिर्वचनीय आत्मिक माधुर्य को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की कोशिश की थी। उसने विदेशों के भी कुछेक विज्ञापनों का उद्धरण दिया था। जिन लोगों ने हमारे खिलाफ आलोचनाएं की थीं, उनकी बुद्धि-विवेचना पर वह बेहद परिमार्जित भाषा में कटाक्ष करना भी नहीं

ला था।

इतने सव प्रयत्नों के फलस्वरूप उस विज्ञापन के वारे में लोगों का ाक्रोश कम होने लगा। अव यह उम्मीद वंधने लगी कि प्रचार-संस्थान ह वुरे ग्रह कट गये। लेकिन मेरे मन में रंचमात्र भी चैन नहीं था। समूची मुसीवत की प्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी मानो मेरी थी और जिस आदमी का अनुग्रह इस समस्या में सवसे अहम् हो उठा था, वह था शुद्ध अधिकारी! अव जव कभी वह मेरे सामने हंसते हुए आ खड़ा होता था, मेरा दिमाग जैसे ठिकाने नहीं रह पाता था।

उस दिन जाने कहां से टेलीफोन आया। मंझले और छोटे भइया हड़वड़ाए हुए वाहर निकल गये। मुझे आशंका हुई कि कहीं कोई दूसरी पार्टी तो नहीं भड़क गयी।

मैं मंझले भइया की मेज़ पर अकेली ही काम कर रही थी। उस वक्त सुवल 'दा भी दफ़्तर में नहीं थे। इन दिनों उनकी अनुपस्थिति क्रमशः अनियमित हो उठी थी।

उसी समय श्रीमान शुद्ध अधिकारी वेहद खिली हुई मुद्रा में मेरे सामने हाजिर हुए। उन्होंने एक कुर्सी खींचकर वैठते हुए पूछा, "क्यों, मालिक लोग कहां गये?"

मैंने काम में व्यस्त होने का वहाना करते हुए पूछा, "आपको कौन-से मालिक से काम है? दो लोग वाहर गये हैं, एक साहव आये नहीं हैं और एक मालकिन आपके सामने ही वैठी हुई है।"

मानो वह गहरी हैरत में पड़ गया, "आप? मेरा मतलव है, तुम भी मालकिन हो?"

मेरे समूचे वदन में झुरझुरी फैल गयी। मैंने वेहद संयत और ठंडी आवाज में कहा, "वेहतर हो, 'तुम' के वजाय 'आप' कहें।"

"तव तो इसकी आज्ञा लेने के लिए वड़ी मां के पास जाना पड़ेगा। भई, जरा सोचो तो, मैंने इतना-इतना काम कर दिया, उसका इनाम क्या यही वनता है?"

मैंने स्थिर निगाहों से उसकी तरफ़ देखा, "इनाम आपको उन मिलेगा, जिनसे आपको उम्मीद है, अव उनकी तरफ़ से आपको हिस्सेदा

बनाने में भी कोई आपत्ति नहीं है।"

उसने मेरी बात को हंसकर उड़ाते हुए कहा, "बहरहाल मैं आप लोगों की इस कम्पनी में हिस्सा बांटने को जरा भी उत्सुक नहीं हूं।"

मैंने उसके चेहरे पर उसी तरह निगाहें गड़ाए हुए कहा, "तब फिर आप और कौन-सी उम्मीद लगाये बैठे हैं?"

मैं जो बर्दाश्त नहीं कर सकती थी, जवाब देने के पहले उसने वही किया। उसकी आखें कौतुक से चमक उठीं। उसने कहा, "मैं चाहता हूं मेरी गरदन पर एक और सिर निकल आये। जब दो-दो हो जायेंगे, तब कुछ कहने की हिम्मत करूंगा।"

मैंने दबी हुई लेकिन तीखी आवाज में कहा, "अगर दूसरा सिर निकल भी आया, तो उसके साथ जो अहंकार उपजेगा, मुमकिन है, वह टूट भी जाये।"

"हां, वह तो खैर टूट भी सकता है," वह सीटी बजाते हुए एकदम से उठ खड़ा हुआ, "चलिये, और कितनी देर 'आप' दफ्तर में रहेंगी? साढ़े छह तो बज गये। मैं भी मौसी से एक बार मिलता चलूं।"

जाने मैं उसके इस 'आप' शब्द से ठंडी पड़ गयी या कोई और बात थी। यूं भी मैं काफी देर से उठने की सोच रही थी, अतः उसकी बात पर उठ खड़ी हुई। लेकिन अगर मैं उस आदमी के मुंह पर इनकार कर पाती, तो शायद...मेरा दिल ठंडा हो जाता। लेकिन यह नहीं हुआ।

गाड़ी में बैठते ही उसने हंसते हुए कोई कहानी छेड़ने की कोशिश की, "आपको पता है, इन दिनों मैं सिर्फ लोगों के दुख-दर्द दूर करता फिर रहा हूं—एक के बाद एक मैं बस खैरात किए जा रहा हूं! अपने-आपको 'भव-भय-भंजनकारी बटुक भैरव' नाम देने का मन होता है।"

मैं चुपचाप गाड़ी चलाती रही यानी अपनी तरफ से उसकी कहानी सुनने का कोई आग्रह नहीं दिखाया।

शायद इसीलिए सामने वाले व्यक्ति के मन में सुनाने का दुगुना आग्रह जाग उठा।

वह बताने लगा, "इन दिनों लेटेस्ट आपद-उद्धार के लिए मैं जो कोशिश कर रहा हूं, वह एक मजेदार किस्सा है। मेरे एक दोस्त का, एक

ला था ।

इतने सब प्रयत्नों के फलस्वरूप उस विज्ञापन के बारे में लोगों का आक्रोश कम होने लगा। अब यह उम्मीद बंधने लगी कि प्रचार-संस्थान के बुरे ग्रह कट गये। लेकिन मेरे मन में रंचमात्र भी चैन नहीं था। समूची मुसीबत की प्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी मानो मेरी थी और जिस आदमी का अनुग्रह इस समस्या में सबसे अहम् हो उठा था, वह था शुद्ध अधिकारी! अब जब कभी वह मेरे सामने हंसते हुए आ खड़ा होता था, मेरा दिमाग जैसे ठिकाने नहीं रह पाता था।

उस दिन जाने कहां से टेलीफोन आया। मंझले और छोटे भइया हड़बड़ाए हुए बाहर निकल गये। मुझे आशंका हुई कि कहीं कोई दूसरी पार्टी तो नहीं भड़क गयी।

मैं मंझले भइया की मेज़ पर अकेली ही काम कर रही थी। उस वक्त सुबल 'दा भी दफ़्तर में नहीं थे। इन दिनों उनकी अनुपस्थिति क्रमशः अनियमित हो उठी थी।

उसी समय श्रीमान शुद्ध अधिकारी बेहद खिली हुई मुद्रा में मेरे सामने हाजिर हुए। उन्होंने एक कुर्सी खींचकर बैठते हुए पूछा, "क्यों, मालिक लोग कहां गये ?"

मैंने काम में व्यस्त होने का बहाना करते हुए पूछा, "आपको कौन-से मालिक से काम है ? दो लोग बाहर गये हैं, एक साहब आये नहीं हैं और एक मालकिन आपके सामने ही बैठी हुई है।"

मानो वह गहरी हैरत में पड़ गया, "आप ? मेरा मतलब है, तुम भी मालकिन हो ?"

मेरे समूचे बदन में झुरझुरी फैल गयी। मैंने बेहद संयत और ठंडी आवाज़ में कहा, "बेहतर हो, 'तुम' के बजाय 'आप' कहें।"

"तब तो इसकी आज्ञा लेने के लिए बड़ी मां के पास जाना पड़ेगा भई, जरा सोचो तो, मैंने इतना-इतना काम कर दिया, उसका इनाम क्य यही बनता है ?"

मैंने स्थिर निगाहों से उसकी तरफ़ देखा, "इनाम आपको उन मिलेगा, जिनसे आपको उम्मीद है, अब उनकी तरफ़ से आपको हिस्सेदा

मुझे देखते ही बडी मां ने किंचित उग्र स्वर मे कहा, "दीपू, उन लोगों से कह दे, प्रदीप का ब्याह मैं करूंगी। वे लोग समधीजी को फोन पर सभी खबर कर दें। उनसे कहना कि अगर मेरी तबीयत ठीक होती तो मैं खुद जाती। उनसे साइन निकलवाने को भी कहना। अगर कोई साइन निकलती है तो मैं इसी महीने कवरी को अपने घर ले जाऊं।"

मैं गूंगी—पत्थर की मूरत बनी खडी रह गयी।

बडी मां की बेचैनी बढती जा रही थी, "क्यों, अब खडी क्यों है? शायद वे लोग फोन न करें! जरा तू ही जाकर मेरी तरफ से फोन कर दे! जा...जल्दी जा।"

मैं जमीन नापती हुई कमरे से बाहर निकल आयी और सीधे मझले और छोटे भइया के सामने जाकर खडी हो गयी। शुद्ध अधिकारी ऊपर नही दीख रहा था। शायद वह नीचे ही बैठा हुआ था। मेरे दिमाग पर से एक दुर्बोध्य पर्दा धीरे-धीरे सरकता जा रहा था। मझले भइया ने बेहद गम्भीर लेकिन ईषत् आग्रह से जो समाचार दिया, उसका सार-मर्म यही था कि कवरी के सूटकेस मे जहर की एक शीशी और एक चिट्ठी मिली है। उसने लिखा है कि वह ऐसी अधूरी जिन्दगी नही जीना चाहती। उसकी मौत के लिए कोई जिम्मेदार नही। इधर कई दिनो से कवरी की मा को उसका हाव-भाव देखकर, जाने कैसा सदेह हो रहा था। आज जब उसका सूटकेस खोलकर देखा गया तो मामला समझ मे आया। पकडे जाने के बाद से कवरी का पागलपन और बढ गया है।

सच ही तो। बिलकुल अक्षरश वही, जो गाडी मे सुना था।

मेरे क्रोध और विस्मय की सीमा-परिसीमा नहीं थी। मुझे मंझले, छोटे भइया और माधुरी पर बेहद गुस्सा आ रहा था। वे लोग बडी मा को इतना बडा चकमा आखिर कैसे दे पाये? जो व्यक्ति नीचे बैठा था, उस पर भी घोर विस्मय हो आया...उफ! उसके दुस्साहस का क्या कही अन्त नही? इतनी सब करतूतों के बाद उसने पहले से बता भी दिया और परिणाम देखने के लिए वह उसी के साथ यहा तक चलकर आया है।

मुझे सयत होने मे थोडा वक्त लगा। उन लोगों ने सोचा कि ऐसी खबर पाकर मैं स्तब्ध रह गयी हू। थोड़ी देर बाद मैंने ही बात छेडी

"चलो, अब तो तुम लोगों के चेहरों पर हंसी फूटनी चाहिए। टेलीफ़ोन करके ससुराल में खबर कर दो। बड़ी मां को अब कोई एतराज़ नहीं है। छोटे भइया का व्याह कबरी के साथ ही तय हो गया है।"

मैं तेज़ कदमों से नीचे उतर आयी। शुद्ध अधिकारी अकेले ही आराम से हाथ-पांव फैलाकर कमरे की सीलिंग निहार रहा था।

मैंने कमरे में घुसते ही कहा, "चलिये, आपका प्लान अक्षरश: सफल हुआ। लगता है, छोटे भइया के सिर से बला टली। लेकिन अब आप यह सोचिये कि आप अपनी मुसीबत से कैसे छुटकारा पायेंगे? इस मुसीबत से छुटकारा पाना आसान नहीं है।"

शुद्ध अधिकारी ने परेशान होने का नाटक करते हुए कहा, "गज़ब है। आप क्या मुझसे इस बार भी विश्वासघात करेंगी?"

यानी पहले एक बार विश्वासघात कर चुकी हूं। अखबार में उसने खुद ही गाली-गलौज की थी, यह बात मैंने सबको बता दी थी। मेरे लिए अब दिमाग ठीक रख पाना कठिन हो गया।

मैंने उसकी तरफ़ पलटकर व्यंग्य-बाण चलाया, "क्यों, आप क्या उम्मीद करते हैं?"

"मुझे उम्मीद है कि आप यह बात हरगिज नहीं कहेंगी। अगर कहेंगी तो जो बेचारी आपके घर आ रही है, वह किसी दिन भी आपकी बड़ी मां का मन नहीं पा सकेगी। इसके अलावा, इस घर का भला करने के बजाय बुरा करने की मेरी कोई मंशा नहीं है। उन लोगों का रजिस्ट्री विवाह तो साल भर पहले ही हो चुका है। अब ऐसे कितने दिनों चलता?"

मेरे क्रोध पर मानो एक धार पानी डाल दिया गया हो। अचानक मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठी।...इसीलिए साल-भर से छोटे भइया इतने शान्त थे। इतने दिनों कबरी का नाम तक ज़ुबान पर नहीं लाये?

पता नहीं उसने भला किया था या बुरा। लेकिन उस आदमी के प्रति मेरा विद्वेष कहीं से भी कम नहीं हुआ। कबरी और छोटे भइया का व्याह अनुष्ठानिक रूप में निर्विघ्न समाप्त हुआ।

इसके बाद भी बहुत बार अपने मन में बिलकुल पक्का इरादा करके गुस्से से बिफरती हुई बड़ी मां के कमरे तक गयी हूं। शुद्ध अधिकारी के

कीर्ति-कलापों का भंडाफोड़ करने का मन होता था।

लेकिन जाने क्यों अब तक मैं कुछ भी नहीं कह पायी। कई बार सब कुछ बताते-बताते एकदम लौट आयी हूं।

मुझ तक खबर पहुंच चुकी थी कि बिजनेस के बंटवारे और वसीयत के बारे में भइया लोग और बड़ी मां में उधर कई दिनों से सलाह-मशविरा चल रहा है। लेकिन मैंने जान-बूझकर ही अपनी तरफ से कोई कौतूहल नहीं दिखाया।

उस दिन घर लौटकर यज्ञेश्वर की जुबानी मालूम हुआ कि मुबल 'दा अपना बक्सा-बिछौना ले-देकर घर छोड़कर चले गये हैं। यह खबर सुनते ही मेरे सिर में जैसे आग जल उठी। इधर कई दिनों से मुबल 'दा को अन्यमनस्क देख रही थी। उनका चेहरा-मोहरा, आंखें बिलकुल अंदर धंस गयी थीं। कल बड़ी मां ने मुबल 'दा को अपने कमरे में बुलाया था, उन लोगों में जाने क्या बातें हुईं। बड़ी मां के कमरे से निकलते हुए मुबल 'दा का चेहरा फक्क पड़ गया था। लेकिन वहां मझले और छोटे भइया भी मौजूद थे, अतः उनसे कुछ पूछने का मौका ही नहीं मिला।

मैंने बड़ी मां के कमरे में आकर सीधे उनसे ही दरियाफ्त किया, "सुनती हूं, मुबल 'दा यह घर छोड़कर चले गये?"

बड़ी मां का चेहरा तमतमाया हुआ था, "हां।"

"क्यों?"

"मैंने ही उसे जाने को कहा था।"

मैं पल-भर को अवाक् रह गयी। बड़ी मां का सख्त चेहरा पहले कभी नहीं देखा था।

"उन्हें जाने को क्यों कहा गया—खाना बनाने में कोई एतराज है?"

"हां, है।" बड़ी मां झुंझला उठीं, "मेरी मर्जी! मैंने उसे अपने घर से निकल जाने को कहा, तुझे इतनी खोज-खबर लेने की क्या जरूरत है?"

मैं उनके चेहरे की तरफ देखती रही। सचमुच पराये लड़के को कभी सगा बेटा नहीं बनाया जा सकता, उनके चेहरे की तरफ देखते हुए मानव

मैं इस सच को महसूस कर रही थी।...लेकिन परायी लड़की को...?

मैंने कहा, "ठीक है, मैं नहीं पूछूंगी। लेकिन लगता है, बिज़नेस में भी कोई हिस्सा मिलना उसकी किस्मत में नहीं था।"

"नहीं!"

"तुम्हारे शुद्ध अधिकारी को मिल गया?"

बड़ी मां धीरज खो बैठीं, "देख, उसे तू जितना लोभी समझती है, वह वैसा लड़का नहीं है? उसने खुद कह दिया है कि उसे इन सब मामलों में घसीटने का खयाल हम अपने दिल से निकाल दें।"

"वाह! लेकिन मेरे बारे में क्या इन्तज़ाम किया है? तीन हिस्से में से एक हिस्सा दे रही हो न?"

बड़ी मां बिलकुल अग्निमूर्ति की तरह दहाड़ उठीं, "नहीं! नहीं दिया। तू क्या सोचती है? शादी-ब्याह के बाद भी तू इसी तरह डांव-डांव डोलती फिरेगी?"

"खैर, डांव-डांव न भी डोलूं, लेकिन हिस्सा तो कहीं नहीं जाता। इसके अलावा यह भी तो हो सकता है, मेरा ब्याह तुम्हारी मर्ज़ी के मुताबिक न हो! खैर! मेरे बारे में तुमने क्या इन्तज़ाम किया है, जरा सुनूं?"

"तेरे-जैसी निर्लज्ज और बेहया लड़की मैंने नहीं देखी। जो इन्तज़ाम किया गया है, बिलकुल ठीक किया गया है। तेरे ब्याह के लिए चालीस हज़ार रुपये, तेरे नाम से तेरी पास-बुक में जमा कर दिये गये हैं और ब्याह करके चाहे तू जहां भी जाये, तुझे खर्च के लिए हर महीने पांच सौ रुपये मिला करेंगे! ब्याह के बाद भी तू ज़मीन-जायदाद की देख-भाल खुद करे, यह मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।"

"खैर, कोई बात नहीं!" मेरे चेहरे पर कड़वी हंसी के अलावा और कोई भाव नहीं आया। मुझे अपने को संयत करने में जोर लगाना पड़ा।

मैंने कमरे से जाते हुए कहा, "ठीक है, तुम्हें जो पसन्द हो वही करो! अब मैं भी देखूं कि क्या किया जा सकता है।"

अगले दिन सुबल 'दा ने खुद ही फोन किया। उन्होंने सूखी हुई आवाज में पूछा, "सुन लिया न सब ?"

"हां, तुम्हारे लिए इस घर में जगह थोड़ी ही नहीं ! मेरा भी कोई ठिकाना न रहे, इसका भी इन्तजाम किया जा रहा है।"

उधर से सुबल 'दा ने चिंतित स्वर में कहा, "लेकिन मौसी अचानक इतनी खफा क्यों हो गयीं, समझ में नहीं आया ! मेरे बारे में वह कुछ कह रही थी ?"

"कहेंगी क्या ? वे अपने सगे बेटों का स्वार्थ ही तो पहले देखेंगी ? खैर, छोड़ो ! यह बताओ कि अब क्या करने की सोच रहे हो ?"

सुबल 'दा का उत्फुल्ल स्वर सुनायी दिया, "मैंने सब सोच लिया है ! प्लान भी तैयार है। माहेश्वर भानु तो काम शुरू करने के लिए प्रायः हर रोज ही तकाजा कर रहा है। रुपये की चिन्ता करनी होगी। लेकिन तुमसे तो आज ही मिलना जरूरी है।"

"कहां ?"

सुबल 'दा ने किसी बड़े रेस्तरां का नाम लिया। मैंने हामी भर दी।

जब मैं वहां पहुंची तो सुबल 'दा की बिलकुल भिन्न मूर्ति ! उत्साह उद्दीपन से भरपूर। उन्होंने बड़े उत्साह से मुझे एक केबिन में ला बिठाया। कहा, "ऐसा ही कुछ होगा, यह मैं पहले से ही जानता था। बस, इसका आखिरी रूप देखने की प्रतीक्षा में था। खैर, अब तुम रेडी हो न ?"

मैंने सिर हिलाया, "हां, बिलकुल रेडी हूं। मैं उनके पांच टके के आसरे बैठने वाली नहीं हूं।"

सुबल 'दा ने सोत्साह सूचना दी कि वे उसी तरह का एक विज्ञापन-फ़र्म खोलने जा रहे हैं और अगर दो साल के अंदर फर्म को भइया लोगों की फर्म से अधिक बड़ा करके न दिखाया तो वे अपने नाम से कुत्ता पाल लेंगे। माहेश्वर भानु शुरू-शुरू में पचहत्तर हजार रुपया लगायेगा। दफ़्तर के लिए एक सजा-सजाया फ्लैट भी देगा। इन दिनों वह काफ़ी खुश मूड में है। उसे अपनी जबरजंग बीवी से हमेशा के लिए छुटकारा मिल गया है। अब उस पर किसी तरह की कोई जिम्मेदारी भी नहीं है।

सुबल 'दा ने कहा, "वह आदमी कितना भला है, यह हम लोग पहले

मैं इस सच को महसूस कर रही थी।...लेकिन परायी लड़की को...?

मैंने कहा, "ठीक है, मैं नहीं पूछूंगी। लेकिन लगता है, बिज़नेस में भी कोई हिस्सा मिलना उसकी किस्मत में नहीं था।"

"नहीं!"

"तुम्हारे शुद्ध अधिकारी को मिल गया?"

बड़ी मां धीरज खो बैठीं, "देख, उसे तू जितना लोभी समझती है, वह वैसा लड़का नहीं है? उसने खुद कह दिया है कि उसे इन सब मामलों में घसीटने का खयाल हम अपने दिल से निकाल दें।"

"वाह! लेकिन मेरे बारे में क्या इन्तज़ाम किया है? तीन हिस्से में से एक हिस्सा दे रही हो न?"

बड़ी मां बिलकुल अग्निमूर्ति की तरह दहाड़ उठीं, "नहीं! नहीं दिया। तू क्या सोचती है? शादी-ब्याह के बाद भी तू इसी तरह डांव-डांव डोलती फिरेगी?"

"खैर, डांव-डांव न भी डोलूं, लेकिन हिस्सा तो कहीं नहीं जाता। इसके अलावा यह भी तो हो सकता है, मेरा ब्याह तुम्हारी मर्जी के मुताबिक न हो! खैर! मेरे बारे में तुमने क्या इन्तज़ाम किया है, जरा सुनूं?"

"तेरे-जैसी निर्लज्ज और बेहया लड़की मैंने नहीं देखी। जो इन्तज़ाम किया गया है, बिलकुल ठीक किया गया है। तेरे ब्याह के लिए चालीस हज़ार रुपये, तेरे नाम से तेरी पास-बुक में जमा कर दिये गये हैं और ब्याह करके चाहे तू जहां भी जाये, तुझे खर्च के लिए हर महीने पांच सौ रुपये मिला करेंगे! ब्याह के बाद भी तू जमीन-जायदाद की देख-भाल खुद करे, यह मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है।"

"खैर, कोई बात नहीं!" मेरे चेहरे पर कड़वी हंसी के अलावा और कोई भाव नहीं आया। मुझे अपने को संयत करने में जोर लगाना पड़ा।

मैंने कमरे से जाते हुए कहा, "ठीक है, तुम्हें जो पसन्द हो वही करो! अब मैं भी देखूं कि क्या किया जा सकता है।"

की वजह से भानु को बहका-फुसलाकर राजी करना जरा आसान हो गया। वैसे भी अगर यह हमारे साथ रहा तो बड़े-बड़े कॉन्ट्रैक्ट पकड़ने में सुविधा होगी। लेकिन तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो? हम, तुम और भानु अगर एक तरफ रहे तो मौका देखकर उसे हटाने में कितनी देर लगेगी? तुम देखना मैं काटे से काटा निकालूंगा। लेकिन अभी इस बारे में आगा-पीछा करना बुद्धिमानी का काम नहीं होगा। इसके अलावा, अभी जो कुछ करना है, वह हम तीनों मिलकर करेंगे।"

जैसे-तैसे मैं राजी हो गयी। लेकिन उस आदमी का शामिल होना, मैं किसी तरह भी बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी।

अगले दिन माहेश्वर भानु से शाम के बाद उसके घर पर ही मिलना निश्चित हुआ। क्योंकि इस वक्त का एक भी पल बेकार नष्ट करने के लिए नहीं था। सचमुच माहेश्वर भानु ने काफी उत्साह दिखाया और हमारा खूब आदर-सत्कार भी किया। हमारा नया बिजनेस देखते ही देखते आसमान छूने लगेगा, इस बारे में उसे कोई दुविधा नहीं थी।

हमें विदा करते हुए उसने हंसकर कहा, "बात दरअसल यह है कि अपनी पत्नी को देखने के बाद, मैं दुनिया-भर की लड़कियों के खिलाफ हो गया था, लेकिन यह भी सच है कि दुनिया में आप जैसी स्पष्टवादी और वन्डरफुल महिलाएं भी तो हैं।"

उसकी सौजन्यता और शालीनता से मैं इतनी प्रभावित हो चुकी थी कि उसकी इस तारीफ में भी मुझे कोई अतिरेक नजर नहीं आया।

अगले दिन वह अपनी चमचमाती हुई कार में मुझे और सुबल 'दा को दफ्तर के लिए फ्लैट दिखाने ले गया। हमारा उत्साह दुगुना हो गया। सच ही, यह-सब देखकर मझले और छोटे भइया की आंखें फैली-की-फैली रह जायेंगी। मुझे यह भी बताया गया था कि हमारे कमरे एयर-कंडीशन्ड करा दिये जायेंगे।

इधर कई दिनों से घरवालों से मेरी मुलाकात बहुत कम होती थी। उस रात घर लौटकर सुना कि बड़ी मां की दिल की बीमारी अचानक बहुत बढ़ गयी है। शाम से ही कई छोटे-बड़े डॉक्टर आ-जा रहे हैं। अभी भी खतरा पूरी तरह टला नहीं है, लेकिन अब वे पहले से बेहतर हैं।

उस दिन मैं चुपचाप बड़ी मां के पताने जाकर बैठ गयी। उस वक्त उनके कमरे में कोई नहीं था। बड़ी मां ने मुझे देखते ही सबको कमरे से विदा कर दिया।

उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथों में लिया और मेरी तरफ़ बेहद कातर दृष्टि से देखते हुए कहा, "अब शायद मेरे जाने का वक्त आ गया, रे! तू मुझसे इतनी नाराज़ क्यों है?"

"भला मैं क्यों नाराज़ होने लगी? बल्कि तुम ही आलतू-फालतू चिन्ता में पड़ी रहती हो, तभी जल्दी से ठीक नहीं हो पा रही हो।"

"अगर तू नाराज़ नहीं है, तो सारे दिन तू कहां भटकती रहती है? कहां रहती है? सुना है, आजकल तू आफ़िस भी नहीं जाती। शुद्ध बता रहा था कि तू किसी नये बिज़नेस के चक्कर में है! आजकल उसी में व्यस्त है! क्या यह बात सच है?"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

बड़ी मां बेचैन हो उठीं, "क्यों, मैं पूछती हूं आखिर क्यों? तुझे बिज़नेस करने की क्या ज़रूरत है? तेरे साथ और कौन-कौन है? कहीं सुबल तो नहीं है?"

मैंने बेहद धीमे लहजे में जवाब दिया, "जिसने तुम्हें इतनी सारी खबर दी, उसने इत्ती-सी खबर क्यों छोड़ दी? हां, मेरे साथ सुबल 'दा भी है।"

बड़ी मां का चेहरा निमिष-भर में विवर्ण हो आया।

मैं डर गयी कि कहीं उनकी तबीयत दुबारा न बिगड़ जाये। मैंने कहा, "लेकिन तुम्हें इन सब बातों को लेकर सिर खपाने की ज़रूरत नहीं है।"

काफ़ी देर बाद बड़ी मां ने धीमी आवाज़ में कहा, "हां, रे, तू मेरी सगी बेटी है, यह बात भी तू भूल गयी? मैं नहीं चाहती थी कि तू इन सबमें डूबी रहे। तूने मेरी इत्ती-सी बात भी नहीं समझी? चल, छोड़! यह सब छोड़ दे! मेरी बात मान ले और अपना रंग-ढंग बदल दे!"

मैं बिलकुल निःशब्द हो आयी। बड़ी मां दूसरे हाथ से मेरी पीठ सहलाने लगीं।

थोड़ी देर रुककर बड़ी मा ने दुबारा कहा, "मुझे अपनी सास की एक बात हमेशा याद रही। उन्होंने धोखे में किसी गलत जगह दस्तखत कर दिया था, और इस जरा-सी भूल ने उन्हें जहां ला खड़ा किया था, वह बहुत बुरी जगह थी। अगर उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज न सुनी होती तो वह राजरानी बनकर रही होती, लेकिन उन्होंने देखा उनके लड़के दिन-पर-दिन अनजाने में ही अध पतन की आग में जल मरने को अंधाधुन्ध दौड़ रहे हैं। एक शरद्-पूनो की रात उन्होंने अपने हाथों से आग लगाकर समूचे इलाके को जलाकर राख कर डाला और उसी आग में खुद भी जल मरी।"

उनके मुंह से अचानक कहानी सुनकर मैं अवाक् रह गयी।

बड़ी मा ने पल-भर मुस्ता कर बेहद धीमी आवाज में कहा, "औरत का असली परिचय यही होता है, समझी? खुद जलकर दूसरों को रोशनी देना! तुम लोग ठहरी नये जमाने की लड़कियां! तुम लोग जो करती-फिरती हो, मुझे फूटी आंखों नहीं सुहाता! यह सब मुझे रंचमात्र भी पसन्द नहीं है, समझी?"

मैं उनकी उपमा सुनकर मन-ही-मन झुंझला उठी। प्रकारान्तर से बड़ी मा यही तो समझाना चाहती थीं कि आजकल की लड़कियां ही लड़कों को भयंकर आग की तरफ खींच लेती हैं। ऐसा दकियानूस दृष्टि-कोण आखिर कैसे बदला जाये?

लेकिन बड़ी मा की उस कहानी में कहीं कुछ ऐसा जरूर था, जिसे मैं एकबारगी नजर-अंदाज भी नहीं कर पायी।

बड़ी मां की तबीयत में हल्का-सा सुधार आते ही मैं बाहरी कामकाज में दुबारा व्यस्त हो गयी। हालांकि मुझे सबसे अधिक शिकायत बड़ी मा से ही थी, लेकिन मझले और छोटे भइया से मैं बुरी तरह नाराज थी।

अगले दिन मुकुल 'दा ने खबर दी कि माहेश्वर भान् ने अपने मेहमानों के ठहरने वाले सूट में हमें रात के खाने पर आमन्त्रित किया है। उसी दिन सारी बातें भी तय हो जायेंगी और राजीनामा के ड्राफ्ट पर दस्तखत भी हो जायेगा।

मैंने छूटते ही जानना चाहा, "डिनर पर और कौन-कौन आ रहा है ?"

सुवल 'दा मेरे इस सवाल का आशय समझ गये। उन्होंने हंसकर कहा, "सिर्फ़ मैं, तुम और भानु...और कोई नहीं !"

मैं निश्चिंत मन से राज़ी हो गयी।

सुवल 'दा हमारे भावी विज़नेस के नये फ्लैट में ही, एक कमरा लेकर रहने लगे थे। उनसे यही तय हुआ कि अगली शाम को डिनर पर जाते समय मैं उन्हें अपनी गाड़ी में ले लूंगी। अभी भी एक गाड़ी मेरी ही हिफ़ाजत में थी। वैसे यह गाड़ी भी कितने दिन रहेगी, यह मुझे नहीं मालूम था। यह सोचकर मेरी परेशानी और वढ़ गयी थी। मेरे व्याह के लिए अलग से जो रुपया मेरे एकाउण्ट में जमा किया गया है, अगर वह अभी मिल जाता तो मैं आंख-नाक मूंदकर, सवसे पहले एक छोटी-सी गाड़ी खरीद डालती। खैर, देखा जायेगा। पहले वड़ी मां ठीक तो हो ले।

लेकिन शाम को सुवल 'दा के फ्लैट में पहुंचकर मैं अवाक् रह गयी। सुवल 'दा गायव थे। उनके फ्लैट में ताला लगा हुआ था। दरवान ने वताया कि वे वाहर चले गये हैं, और कह गये हैं कि वे रात को खा-पीकर लौटेंगे।

मुझे कुछ समझ में नहीं आया। मैंने अपनी घड़ी को कान से लगाकर देखा। घड़ी विलकुल ठीक चल रही थी। मैंने याद करने की कोशिश की—हां, दिन भी वही था। मैं अकेली ही माहेश्वर भानु के सूट की तरफ़ चल पड़ी।

उनके मकान के दूसरे मंजिले पर पहुंचकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। फ्लैट में वैरों के अलावा और कोई नहीं था। उन्होंने वताया कि साहव या सुवल वावू कोई भी वहां नहीं आया। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सी उनके ड्राइंग-रूम में दाखिल ही हुई थी कि एकवारगी अचकचा गयी। सामने सोफ़े पर शुद्ध अधिकारी धंसा हुआ वैठा था।

मानो उसे पहले से ही ज्ञात हो कि मैं वहां आने वाली हूं। उसने निहायत वेतकल्लुफ़ी से स्वागत किया, "वैठिये।"

मुझसे विना पूछे नहीं रहा गया—"आप ?"

उसने हंसकर उत्तर दिया, "सुबल 'दा ने तो मेरा बॉयकाट कर दिया था, लेकिन भानु से मुलाकात होते ही उसकी तरफ से निमंत्रण मिल गया।"

मैंने अपनी झुंझलाहट दबाते हुए पूछा, "लेकिन ये लोग तो दीख नहीं रहे हैं?"

"आज इन लोगों के दीखने की कोई संभावना भी नहीं है।"

मेरा आश्चर्य बढ़ता गया, "मतलब?"

"मतलब यह कि अगर आप घर पर यह कह आयी है कि आज आप बाहर खायेंगी, तो आपको इसी दम मेरे साथ किसी अच्छे होटल में चल देना चाहिए वरना देर हो गयी तो खाने को कुछ मिलेगा भी नहीं।"

मैं झुंझला उठी, "अब आप पहेली बुझाना छोड़कर सीधी-सीधी बात बतायेंगे?"

"किसी जरूरी काम से भानु को जमशेदपुर भागना पड़ा है।"

"और सुबल 'दा?"

"सुबल 'दा ने मुझसे ही आपको खबर देने को कहा था, लेकिन मुझे फुर्सत ही नहीं मिली।"

मेरी नसों का खून धीरे-धीरे माथे पर चढ़ने लगा। मैंने उसके बिलकुल सामने वाले सोफे पर बैठते हुए सवाल किया, "आपको खबर देने तक की फुर्सत नहीं मिली और यहां आप सशरीर हाजिर हो गये? क्यों, फोन से भी तो खबर दे सकते थे?"

उसके होंठों के कोरों पर दिल जलाने वाली हंसी उभर आयी, "असल में आपसे एकान्त में दो-चार बातें करना चाहता था, इसलिए..."

मेरी तबीयत हुई कि उसका गोरा-चिट्टा चेहरा एकबारगी भस्म कर दूं। मेरी निगाहें उसके चेहरे पर एकटक स्थिर हो गयीं।

शुद्ध अधिकारी ने कहा, "सचमुच, अगर हम किसी होटल में चलकर बैठें, तो कैसा रहे?"

"रहने दीजिये!" मेरे चेहरे पर व्यंग्य और क्रोध झलक आया, "चलिये, आप बात करने की मनोकामना ही चटपट पूरी कर डालिये और बेहतर हो कि यह हमारी आखिरी बातचीत हो।"

इतनी देर बाद अचानक वह तनकर बैठ गया। उसने बेहद लापरवाह अंदाज़ में कहा, "नहीं, कोई खास बात नहीं है...आपका यूं बिज़नेस में शामिल होना या इस तरह डिनर-विनर खाने आना...बहुत अच्छा नहीं लग रहा है।

"किसे अच्छा नहीं लग रहा है?"

"आपकी बड़ी मां को...मुझे।"

"ओ...यानी आपका कहना है कि बड़ी मां और आपकी नापसन्दगी बराबर है?"

उसने उसी तरह बेतक्ल्लुफ़ी से हंसकर जवाब दिया, "सच पूछो तो मेरी नापसन्दगी तो बड़ी मां से भी अधिक है।"

निश्चित रूप से यही आदमी बड़ी मां के कान में ज़हर उगलता है, लेकिन उसके दुस्साहस की वाकई तुलना नहीं थी। वह मानो कोई कहानी सुनाने के अन्दाज़ में कहता गया, "यह तो खैर आपको भी मालूम होगा कि मैं बहुत दिनों से आपके रंग-ढंग पर गौर कर रहा हूं। हालांकि इसके लिए भी मेरे बापू ही ज़िम्मेदार हैं।...जब मैं आई० ए० में पढ़ रहा था तो वे मां से कहा करते थे, अगर मैं अच्छी तरह पास-वास करके सचमुच इंसान बन सकूं तो वे आपकी बड़ी मां से मेरे लिए भीख मांग लाएंगे। उन्हें भरोसा था कि अगर उनका लड़का लायक निकला और उसका बाप अगर आपकी बड़ी मां के सामने हाथ फैलाकर खड़ा हो जायेगा तो आपकी बड़ी मां उन्हें खाली हाथ वापस नहीं लौटा पायेंगी। मुझे यह खबर मेरी बहन ने सबसे छिपाकर दी थी। जब आई० ए० का रिज़ल्ट खराब हो गया था तो बाबू किस तरह आगबबूला हुए थे। और जब मैंने बी० ए० में आकर ऑनर्स छोड़ दिया तो वे इतना भड़के थे कि अगर उनका वश चलता तो वे मुझे घर से ही निकाल देते। उसी दिन से मेरे मन में आपके प्रति दायित्व-बोध जाग उठा।"

मैं उसके चेहरे की तरफ़ घूरती हुई मन-ही-मन यह सोच रही थी कि इस आदमी का दमकता हुआ चेहरा धूल में मिला देना संभव है या नहीं! मैं धीमे-धीमे सोफ़ा छोड़कर उठ खड़ी हुई। मैंने जलती हुई निगाहों से उसे झुलसते हुए, बेहद सधी हुई सख्त आवाज़ में कहा, "यानी अब आप अपने

को बे-हद सुयोग्य समझने लगे हैं ?"

उसने एक गाल हँसकर जवाब दिया, "इस अंधेर नगरी चौपट राजा के जमाने में आपको मुझ जैसा लायक शायद ही कोई मिले। हर बार मुझे बापू का खयाल आ जाता है। बस, इसीलिए मैं अपनी योग्यता की करामात दिखाने में रह जाता हूं।...लेकिन हम लोग इसी वक्त किसी होटल नहीं गये, तो रात के खाने का क्या होगा? इसके अलावा अगर हम किसी होटल में चलकर बैठें तो मुमकिन है आपसे थोड़ी-बहुत बात भी कर सकूं।"

उत्तर में एक बार मैंने अपने पांवों की तरफ नज़र डाली मानो सैंडिल दिखा दिया, उसके बाद मैं सीधे सीढ़ियों की तरफ बढ़ गयी।

पीछे से उसकी आवाज सुनायी दी, "अजीब आफत है! ऐसे मिजाज में अगर गाड़ी चलाकर जाएगी तो राम जाने फिर किसी मुसीबत में न फंस जायें।"

मैं गाड़ी ड्राइव करके सीधे मुकुल 'दा के फ्लैट में पहुंची। मुमकिन है अब तक वे लौट आये हों। उन्होंने खुद ही मुझे यह सूचना क्यों नहीं दे दी, इस गुस्से में मानो उन्हीं पर खड्गहस्त हो उठी थी।

मुकुल 'दा घर पर ही थे। मुझे देखते ही वे जिस तरह उत्तेजित होकर मेरे करीब आ खड़े हुए, मेरे लिए वह नितान्त अप्रत्याशित था।

उन्होंने छूटते ही पूछा, "तुम्हें तीन-तीन बार घर पर फ़ोन किया। इतनी देर से तुम कहां थी? कहीं शुद्ध के पल्ले तो नहीं पड़ गयी थीं? उफ! कैसा भयंकर आदमी है! उसका तो खून कर डालना चाहिए। देख लेना एक दिन मैं ही उसका खून कर डालूंगा।"

मैं समझ गयी, ज़रूर कुछ हुआ है। मैंने अपनी नाराजगी दबाते हुए पूछा, "बात क्या है?"

उत्तर में मुकुल 'दा ने जो कहानी सुनायी, उसे सुनकर मैं केवल स्तब्ध ही नहीं हुई, बल्कि यह महसूस किया कि मुमकिन है मैं भी किसी दिन उसका खून कर डालूं।

"...आज सुबह मिस्टर भान् से शुद्ध अधिकारी की अचानक मुलाकात हो गयी। मिस्टर भान् ने शुद्ध अधिकारी को भी रात के खाने पर आने या

आमंत्रण दे डाला। उसी समय शुद्ध अधिकारी ने उन्हें सूचित किया कि उसे मिस दीपिका चैटर्जी ने ही आज का प्रोग्राम कैंसिल करने के लिए भेजा है! मिस चैटर्जी के घर की मालकिन की तबीयत अचानक खराब हो जाने की वजह से, प्रोग्राम कैंसिल करने के अलावा और कोई उपाय नहीं था! सुवल 'दा का नाम आते ही, उसने छूटते ही कहा कि उन्हें वह सूचना देकर ही आ रहा है। वहां से वह सुवल के यहां पहुंचा। उसके सामने यह कहानी गढ़ी कि अचानक कोई ज़रूरी टेलिग्राम पाकर मिस्टर भान् आज ही जमशेदपुर रवाना हो गया है, अतः आज रात के डिनर का कार्यक्रम कैंसिल! भान् उसे यह सूचित कर देने को कह गया है। उसने सुवल से यह भी कहा कि वह दीपू के घर जा रहा है। वहां उसे भी सूचना दे देगा।

मैं स्तब्ध होकर बैठी रही।

सुवल 'दा ने पूछा, "लेकिन तुम इतनी देर तक कहां थीं?"

"भान् के सूट पर! मुझे कोई खबर नहीं मिली! वह खुद ही वहां बैठा मेरा इंतजार कर रहा था।"

"उफ़! कैसा शैतान आदमी है!...अच्छा...उसने मेरे नाम भी कुछ कहा-सुना?"

मैं सुवल 'दा पर ही बिफर पड़ी, "नहीं! लेकिन तुम उससे इतना डरते क्यों हो? वाकई उसका खून कर देना तो संभव नहीं है। अतः अब क्या करना है, कुछ सोचा है?"

सुवल 'दा जैसे निश्चिन्त हो आये। उन्होंने कहा, "खैर, इस बिजनेस में तो उसके बारह बज गये। अब कोई उसे अपने धंधे में शामिल करने से रहा। शाम के बाद जब मैंने भान् को फ़ोन करके यह पता करना चाहा कि वह जमशेदपुर से कब लौट रहा है, तो सारी पोल खुल गयी। मैं उसी वक्त दौड़ता हुआ उसके घर पहुंचा। वहीं से तो तुम्हें भी कई बार फ़ोन किया। सारी कहानी सुनकर भान् का गुस्सा देखने लायक था। उसने भी कहा, "मरने से पहले शुद्ध अधिकारी को पंख निकल आये हैं। अब उसकी मौत बिलकुल निश्चित है।"

बड़ी मां की तबीयत गंभीर रूप से खराब है, शुद्ध अधिकारी का झूठा बहाना ही दैवयोग से सच हो गया। हालांकि उनकी तबीयत पहले से ही

खराब चल रही थी। उस रात बहुत अधिक चिन्ताजनक हो उठी। दो दिनों के अन्दर हम सबको पता चल गया कि उनका वक्त अब पूरा हुआ! *अब वह शायद ही कभी उठ सकें।*

घर में छोटे-बड़े सभी डॉक्टरों का आना-जाना लगा रहा। मंझले और छोटे भइया बुरी तरह व्यस्त हो उठे। माधुरी और करबी के चेहरों पर भी वक्त के अनुसार मातम छा गया। अपना फर्ज निभाने के लिए उनके मां-बाप भी उन्हें देखने के लिए दौड़े आये। बड़ी मां अन्त तक अपने पूरे *होशोहवास में थीं। लेकिन उन्हें बात करने में काफी तकलीफ़ हो रही थी।* रात-भर मैं उनके सिरहाने से लगी बैठी रही। मेरे अलावा वहां एक नर्स भी थी।

बड़ी मां ने आंखें खोलकर मेरी तरफ देखा। बेहद करुण दृष्टि, मानो कुछ कहना चाहती हों। नर्स दूर कोने में बैठी-बैठी ऊंघ रही थी।

मैंने बड़ी मां के चेहरे तक झुककर पूछा, "कुछ कहोगी?"

बड़ी मां की आंखें और करुण हो आयीं। उनका चेहरा जैसे बुझ *आया। मानो वे किसी अनिश्चित यातना में छटपटा रही थीं, उनकी* शारीरिक यातना से भी तीखी!

मैंने सहज भाव से पूछा, "बड़ी मां, तुम शायद मुझे लेकर परेशान हो न?"

मुझे उसी तरह एकटक निहारते हुए बड़ी मां ने मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर आहिस्ता से सिर हिला दिया।

मैंने थोड़ा रुककर कहा, "तुम निश्चिन्त रहो, बड़ी मां, मैं कभी कोई ऐसा काम नहीं करूंगी, जिससे इस कुल के नाम पर कालिख लगे।"

बड़ी मां जैसे अस्फुट स्वर में आकुल आश्वासन मांग रही हों।

"तू वचन देती है न?"

"हां।"

"अगर मैं नहीं रही, तब भी नहीं न?"

"नहीं!"

बड़ी मां की आंखों से आंसू छलछला आये, लेकिन अब वे मानो निश्चित हो आयी थीं। उन्होंने थोड़ा ठहरकर कहा, "वसीयत पर आ

दस्तखत नहीं हुआ है। सोचती हूं, मैं तुम सबका बराबर-बराबर का हिस्सा लगा दूंगी...लेकिन तू खुद बिज़नेस करे, यह मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता है, रे ! और सुन, तू उस सुवल की छाया तक से हमेशा दूर रहना, कहे देती हूं ! और एक बात, शुद्ध तुझे इतना नापसन्द क्यों है, रे ?"

मैंने अपने मन का असहनीय विद्वेप दबाते हुए जवाब दिया, "अब तुम शांत होकर ज़रा सोने की कोशिश करो तो। यह सब सोचने-विचारने को अभी बहुत वक्त पड़ा है।"

अब मुझे यह पक्का विश्वास हो गया कि सुवल 'दा के खिलाफ़ बड़ी मां को इतना भड़काने वाला शुद्ध अधिकारी के अलावा और कोई नहीं है। लेकिन उसकी वजह मेरे लिए अब भी अजब पहेली बनी हुई थी। मुमकिन है यह शुद्ध अधिकारी बिज़नेस के खुद मुख्तार मालिकों यानी भइया लोगों का प्रियपात्र बनना चाहता हो। इस बात पर मुझे जाने क्यों यकीन ही नहीं आता था कि उसका हमारे बिज़नेस के प्रति ज़रा भी लोभ नहीं है। अब उसकी निगाह सीधे-सीधे मुझ पर गड़ी हुई थी। मुझे हासिल करने का मतलब था सब कुछ पा लेना ! उसने शायद कुछ इसी तरह की असंभव-सी उम्मीद लगा रखी थी।

अगले दिन सुबह-सुबह ही बड़ी मां के कमरे में भइया लोगों के सास-ससुर का पदार्पण हुआ। मैं मौका देखकर, वहां से उठकर चली आयी। उस कमरे में उन लोगों की मीटिंग बैठने वाली थी। अब वहां तरह-तरह के सलाह-मशविरे होंगे।

अपने कमरे में कदम रखते ही मेरे पैर का खून सिर पर जा चढ़ा। मेरे कमरे में मेरी ही आरामकुर्सी पर सशरीर शुद्ध अधिकारी जमा बैठा था।

उसने हाथ की पुस्तक एक ओर रखते हुए हंसकर कहा, "मौसी के कमरे में इतनी भीड़-भाड़ देखकर मैं अंदर नहीं गया।"

उससे मैं दो दिनों बाद मिल रही थी और इस बार तो उससे मुलाकात करने के लिए खुद मैं भी उद्भ्रांत हो उठी थी।

मैंने सख्त आवाज में कहा, "अगर आप मेरे कमरे में घुसने का दुस्साहस न करते तो शायद बेहतर होता।"

उसने अपने चेहरे पर बनावटी घबराहट लाते हुए कहा, "क्यों? कहीं निकाल-विकाल तो नहीं दोगी?"

"जी हां, इस कमरे से भी और इस घर से भी..."

"अरे बाप रे, मैं तो आया था किसी की बीमारी का हाल पूछने और...! हां, तो मुझ नाचीज का कसूर क्या है?"

"मैं जानना चाहती हूं कि आप अभी इसी वक्त इस घर से निकलते हैं या नहीं?"

"इससे पहले मेरे लिए यह जानना जरूरी है कि यह घर किसका है? लेकिन...अच्छा...अच्छा, अब समझा! मैंने वह डिनर-पार्टी बिगाड़ दी थी, इसीलिए न? खैर, मौसी सुनेंगी तो खुश ही होंगी। बस, भुवन 'दा का नाम लेने-भर की देर है, मेरे सात खून माफ।"

मैं गुस्से में जैसे होश खो बैठी। मैंने दो कदम आगे बढ़कर कहा, "भुवन 'दा को मैं पहचानती हूं। बड़ी मां भी पहचान लेंगी। लेकिन आप अभी...इसी वक्त इस घर से निकलते हैं या मैं कोई इन्तजाम करूं?"

उसने मुंहज़ोर बनकर कहा, "सुनो, मैं इस घर में डिनर खाने को आया भी नहीं था। लेकिन चाहे आज हो या कल, तुम्हें साथ लेकर ही निकलूंगा। इसलिए यहां आया था...अगर तुम राजी हो तो मुझे आज निकल चलने में कोई आपत्ति नहीं है। भुवन 'दा के चंगुल से निकलो तो अन्त में माहेश्वर भानु से नाता जोड़ लो, भला मैं यह कैसे बर्दाश्त कर सकता हूं?"

मैं स्थान-काल का भी होश गवा बैठी। मुझे बड़ी मां की बीमारी का भी खयाल नहीं रहा। मेरे सिर पर जैसे खून सवार हो गया। मैंने एक कदम आगे बढ़कर अपने पैरों में पड़ी रबड़ वाली चप्पल को अपने हाथ में उठा लिया।

लेकिन उसकी तरफ फेंकने का मौका ही नहीं मिला। पलक झपकते ही शुद्ध अधिकारी उठा और उसने कसकर मेरा हाथ पकड़ लिया। दूसरे हाथ से थप्पड़ जड़ने के पहले, उसने मेरा वह हाथ भी पकड़ लिया। काफ़ी कोशिशों के बावजूद मैं अपना हाथ नहीं छुड़ा पायी।

मैं दबे स्वर में चीख उठी, "छोड़िए! मैं कहती हूं मेरा हाथ छोड़िए, वर्ना मैं चीखकर लोगों को बुला लूंगी और आपकी बेइज्जती करूंगी।"

बाप

एकटक उसे घूरती रही।

वह दुबारा शुरू हो गया—"जानती हो, सुबल 'दा विवाहित है! वह मीता दत्त ही उसकी बीवी है! विजातीय ब्याह करने की वजह से उनके पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया था। क्या तुम्हें मालूम है?"

भयंकर क्रोध की स्थिति में भी इस आकस्मिक धमाके से मैं एकबारगी गूंगी हो आयी।

शुद्ध अधिकारी शान्त भाव से बताता रहा, "यह बात उसने भी मुझे इसी शर्त पर बतायी थी कि मैं इस बात की चर्चा तुम लोगों से कभी नहीं करूंगा और मीता दत्त से तो खैर इतना मालूम ही नहीं था कि वह कुछ कहती।...वह बेहद दुखी लेकिन भली है। सुबल 'दा ने उसे समझा दिया है कि वक्त आने पर वह खुद ही सबको बता देगा, लेकिन अगर मीता ने यह बात फैलाने की कोशिश की तो वह उसे डाइवोर्स दे देगा। मैं भी खामोश रहता। लेकिन अब मैंने बड़ी मा को सब-कुछ बता दिया है—सिर्फ़ तुम्हारी वजह से! तुम्हें माध्यम बनाकर वह अपने भविष्य की राह पुख्ता करना चाहता था। तुम लोगों के पंडितजी को रुपया खिलाकर उसी ने मौसी के आगे तुम्हारे वैधव्य-योग की बात कहलवायी थी और तुम्हारा ब्याह रोक दिया था। मुझे तो उसी वक्त सन्देह हो गया था, जब तुम्हारी बड़ी मां ने मुझे यह किस्सा सुनाया। मैंने उस पंडित को डबल रुपये खिलाकर सच बात कबूल करा ली और बड़ी मा को भी उनके पास खींचकर ले गया था। अब आपने पहचाना अपने सुबल 'दा को? तुम उनके भविष्य की मूल जमा-पूंजी हो। अगर भरोसा न हो तो अपनी बड़ी मा से जाकर पूछो! मीता दत्त से पूछ लो। चाहो तो अपने सुबल 'दा से भी पूछ सकती हो।"

इतना कहने के बाद वह एक पल के लिए भी वहां नहीं रुका। वह एक झटके से उठा और मरटि से बाहर निकल गया।

मैं चित्रलिखित-सी बैठी रह गयी।

बड़ी मा चली गयीं।

और ठीक उसी मुहूर्त से मानो मैं अपना सब कुछ खो बैठी। जब बड़ी

मां नहीं रहेंगी तो इस घर से मेरा इतने दिनों का गहरा रिश्ता-नाता यूं टूट-फूटकर विखर जायेगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

वड़ी मां के श्राद्ध का आयोजन काफ़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। मैंने गौर किया कि सुवल 'दा वड़ी मां की मौत की खवर सुनकर भी नहीं आए। वे उनके दाह-संस्कार में भी शरीक नहीं हुए।

जहां तक मेरा खयाल था, शुद्ध अधिकारी ने उन्हें भी यह खवर दे दी होगी कि उसने मुझे सव कुछ वता दिया है वरना अगर वे घर पर नहीं भी आना चाहते थे तो कम-से-कम फ़ोन पर ही मेरी खोज-खवर ली होती।

वड़ी मां के श्राद्ध के दिन मीता दत्त आयी थी। उसे मैं अपने कमरे में वुला ले गयी। उससे सच्चाई जानने की कोशिश की। काफ़ी देर तक वह सिर झुकाये वैठी रही। उसके वाद उसने सहमति में सिर हिला दिया।

उसने वेहद कोमल आवाज़ में कहा, "ज़माने की हवा ही ऐसी है कि सव कुछ ज़हर हो गया, दीपू 'दी, वरना यह इंसान ऐसा नहीं था।"

मीता ने ही वताया, "अव वह कम्पनी की नौकरी भी छोड़ने की सोच रहा है, दीपू 'दी जो नहीं है। इसके अलावा इन दिनों उसका दिमाग भी काफ़ी उचटा हुआ है।"

वडी मां के आंख मूंदने के ठीक वीस दिन वाद ही मैं भी कठोर वास्तविकता के विलकुल आमने-सामने आ खड़ी हुई।

मझले भइया के कमरे में ही सलाह-मशविरा के लिए मीटिंग वैठी थी। भइया लोग अव मातृहीन हो गये थे, अतः कर्तव्य के तकाज़े की खातिर उनके सास-ससुर का उपस्थित रहना स्वाभाविक ही था। भइया लोगों के अलावा कमरे में उनकी वीवियां भी मौजूद थीं।

वैसे मुझसे वात करने के लिए मंझले भइया ने ही पहल की। मेरे नाम चालीस हज़ार की पास-वुक और चेक-वुक मुझे सौंपते हुए कहा, "ले, तू इसे अपने वक्से में सहेजकर रख दे।"

मैंने वेहद शान्त भाव से पास-वुक और चेक-वुक ले ली।

अव मंझले भइया ने मन की दुविधा झटककर कहा, "तू तो जानती ही है, मां को तेरा विज़नेस में रहना किसी दिन भी अच्छा नहीं लगा... इसीलिए हमने फैसला किया है कि उसे अपने और प्रदीप के नाम वांट लें।

मेरा अनुमान था कि वे लोग ऐसा ही कुछ कहेंगे क्योंकि बड़ी मां को वसीयत पर दस्तख़त करने या वसीयत बदलने की मुहलत ही नहीं मिली। मुमकिन है कि अपने ससुर के सुझाव के अनुसार उन लोगों ने इस विषय में कोई चूं तक नहीं की। लेकिन मेरे दिमाग में जैसे शैतान जाग उठा।

मैंने कहा, "लेकिन बड़ी मां ने मुझसे कहा था कि वसीयत बदलकर सबका बराबर-बराबर हिस्सा कर देंगी।"

लड़की की जायदाद में हिस्सा लेने की बात उन लोगों को बेहद कर्णकटु लगी। माधुरी, कबरी तथा उनकी मां ने दूसरी ओर मुंह फेर लिया।

उनके एटर्नी पिता ने मुझे समझाने की कोशिश करते हुए कहा, "बात यह है कि इन लोगों को तुम्हारा ब्याह भी तो करना है। हिस्सा वगैरह लेकर बाद में कोई झमेला उठ खड़ा हो, ऐसा तुम भी तो नहीं चाहोगी। वैसे ये लोग कुछ दिन सोच-विचार लें। हिस्सा तो खैर, बाद में भी किसी समय तुम्हारे नाम लिखा जा सकता है।"

मुझे उनका आशय बहुत अच्छी तरह समझ में आ गया था, फिर भी बेहया बनकर पूछा, "इसके अलावा मुझे पांच सौ रुपये महीना भी मिलने वाला था। फिलहाल वही इन्तज़ाम तय रहा न?"

मर्दों के चेहरों पर आक्रोश और औरतों के चेहरों पर विरक्ति की छाया उभर आयी। बड़ी मां की इस इच्छा के बारे में मुझे भी खबर हो सकती है, इस बात का किसी को भी अन्दाज़ नहीं था।

मझले भइया ने ही जवाब दिया, "अरे भई, तुझे ज़रूरत हो तो तू पांच सौ की जगह हज़ार रुपये भी ले सकती है। तू क्या हमारे लिए गैर है? लेकिन अभी यह लिखना-पढ़ना उचित न होगा। यह बात तू समझ क्यों नहीं रही है?"

इस तरह सारी बातें समझ-बूझकर मैं अपने कमरे में चली आयी। नहीं, पास-बुक और चेक-बुक मैं उनके मुंह पर नहीं फेंक सकी। हालांकि मेरे ही परिश्रम के फलस्वरूप बैंक में जितने रुपये जमा थे, अगर सिर्फ़ उसका ही हिसाब लगाया जाता तो भी मुझे चालीस हज़ार का कम-से-

कम तिगुना मिलना चाहिए था।

खैर, जितना मिल गया, वही बहुत है। अगर मैं इसी वक्त यहां से निकल जाऊं तो ज़िन्दा रहने के लिए कम-से-कम लोगों के सामने हाथ तो नहीं फैलाना होगा। मुझे थोड़ा सोचने का भी वक्त मिल जायेगा। इस नीचता का उचित उत्तर कैसे दिया जाये, यह तय करने का भी वक्त मिल जायेगा।

नहीं, मुझे रुपये-पैसा या बिज़नेस में हिस्सा न मिलने का गम उतना नहीं था, जितना इस बात का था कि इस घर से मेरी आत्मा और खून का संबंध था और उन लोगों ने उसे इतनी बेमुरव्वती से तोड़-मरोड़कर बिलकुल जड़ से मिटा दिया। इस असहनीय मन्त्रणा की आग मेरे मन से कभी नहीं बुझी। जब तक इसका उचित उत्तर न दे लूं, मुझे चैन नहीं मिलेगा।

मैंने पास-बुक और चेक-बुक को अपने बक्से में रख दिया। दीवार पर टंगी हुई बड़ी मां की तसवीर पर नज़र पड़ते ही अचानक मुझे हंसी आ गयी, लेकिन पनियाई हुई आंखों में जैसे आग जल उठी।

...भविष्य के बारे में सोचते हुए मुझे सबसे पहले माहेश्वर भान् और सुबल 'दा की याद आयी। मेरा उनके साथ ऐसा कुछ हुआ है कि बिज़नेस का इरादा बदल दिया जाये, ऐसी कोई वजह मेरी समझ में नहीं आयी। सुबल 'दा ने मुझे अपने साथ रखकर अपना भविष्य ही तो गढ़ना चाहा था। लेकिन इन लोगों ने मेरे साथ जो कुछ किया, उसकी तुलना में भला यह कौन-सा अन्याय है? चलो, मान लिया कि सुबल 'दा ने पंडितजी को रुपया खिलाकर मेरा ब्याह रुकवा दिया था। मुमकिन है उन्हें मेरी ही परेशानियों का खयाल आ गया हो। खैर, जो भी हो, यह कोई ऐसी बड़ी घटना नहीं थी कि इसके लिए अपना भविष्य नष्ट किया जाये।

मैंने सीधे-सीधे भान् को ही फ़ोन करके दरियाफ़्त किया कि बिज़नेस का मामला कहां तक आगे बढ़ा।

माहेश्वर भान् ने घनिष्ठ अन्तरंगता दिखाते हुए बताया कि सब कुछ बस, मेरी प्रतीक्षा में रुका हुआ है। सारी बातचीत पक्की करने के लिए

उसने मुझे शाम को अपने गेस्ट-हाउस मे आने का आमंत्रण दिया। उसने कहा कि वह इसी बीच सुवल 'दा को भी आने की खबर भिजवा देगा।

उस दिन शाम ढलते ही मैं माहेश्वर भान् के गेस्ट-हाउस मे दूसरी बार हाज़िरी देने पहुच गयी। इस बार मेरे पास गाड़ी नही थी। मैं ट्राम मे ही गयी थी। मेरे मन मे एक बार खयाल भी आया कि सुवल 'दा को भी अपने साथ ही लेती जाऊ, लेकिन जाने कैसा सकोच हो आया। मुमकिन है अब तक वे चले भी गये हों।

उस शाम माहेश्वर भान् का बैरा मुझे दूसरी मजिल के ड्राइंग रूम में नही, बल्कि उनके अदर महल के कमरे में लिवा ले गया। लेकिन कमरे के अदर कदम रखते ही मेरे पैर ठिठक गये। माहेश्वर भान् कमरे मे अकेला था और उसके सामने ही शराब की बोतल और गिलास रखा हुआ था।

मुझे देखते ही वह मेरी सादर अभ्यर्थना मे उठ खडा हुआ, "आइये, मैडम, आइये! आज मेरी तबीयत बुरी तरह डाउन है! बिलकुल डेड—थका हुआ हू...इसलिए जरा यह लेकर बैठ गया! आपको कोई असुविधा तो नही होगी?"

खैर, मुझे तो उस कमरे मे कदम रखते हुए भी असुविधा हुई थी, लेकिन यह बात कहने लायक नही थी।

यू ऐसा भी नही था कि पार्टियों मे इसके आम-प्रचलन से मैं परिचित नही थी। लेकिन यह पहला मौका था, जब कोई अकेले-अकेले पी रहा था और मैं उससे मिलने आयी थी।

"बैठिये न! कमाल है! खडी क्यो है?"

"सुवल 'दा अभी तक नही आये?" मैंने बैठते हुए पूछा।

"आ जायेगा! उसने कहा है, उसे थोडी देर भी हो सकती है। अच्छा, बताइये, आप क्या लेंगी?"

"कुछ नहीं! धन्यवाद!"

मेरी बात जैसे उनके कानों मे पहुची ही नही। उन्होंने बैरे को आवाज देकर मेरे लिए नाश्ता लाने का हुक्म दिया।

मैंने झूठ का सहारा लेते हुए कहा, "देखिये, मैं कुछ खाऊगी नही! घर मे शोक है, सो मेरे लिए बाहर खाना बिलकुल निषिद्ध है।"

कम तिगुना मिलना चाहिए था।

खैर, जितना मिल गया, वही बहुत है। अगर मैं इसी वक्त यहां से निकल जाऊं तो जिन्दा रहने के लिए कम-से-कम लोगों के सामने हाथ तो नहीं फैलाना होगा। मुझे थोड़ा सोचने का भी वक्त मिल जायेगा। इस नीचता का उचित उत्तर कैसे दिया जाये, यह तय करने का भी वक्त मिल जायेगा।

नहीं, मुझे रुपये-पैसा या बिजनेस में हिस्सा न मिलने का गम उतना नहीं था, जितना इस बात का था कि इस घर से मेरी आत्मा और खून का संबंध था और उन लोगों ने उसे इतनी बेमुरव्वती से तोड़-मरोड़कर बिलकुल जड़ से मिटा दिया। इस असहनीय मन्त्रणा की आग मेरे मन से कभी नहीं बुझी। जब तक इसका उचित उत्तर न दे लूं, मुझे चैन नहीं मिलेगा।

मैंने पास-बुक और चेक-बुक को अपने बक्से में रख दिया। दीवार पर टंगी हुई बड़ी मां की तसवीर पर नज़र पड़ते ही अचानक मुझे हंसी आ गयी, लेकिन पनियाई हुई आंखों में जैसे आग जल उठी।

...भविष्य के बारे में सोचते हुए मुझे सबसे पहले माहेश्वर भानु और सुबल 'दा की याद आयी। मेरा उनके साथ ऐसा कुछ हुआ है कि बिज़नेस का इरादा बदल दिया जाये, ऐसी कोई वजह मेरी समझ में नहीं आयी। सुबल 'दा ने मुझे अपने साथ रखकर अपना भविष्य ही तो गढ़ना चाहा था। लेकिन इन लोगों ने मेरे साथ जो कुछ किया, उसकी तुलना में भला यह कौन-सा अन्याय है? चलो, मान लिया कि सुबल 'दा ने पंडितजी को रुपया खिलाकर मेरा ब्याह रुकवा दिया था। मुमकिन है उन्हें मेरी ही परेशानियों का खयाल आ गया हो! खैर, जो भी हो, यह कोई ऐसी बड़ी घटना नहीं थी कि इसके लिए अपना भविष्य नष्ट किया जाये।

मैंने सीधे-सीधे भानु को ही फ़ोन करके दरियाफ्त किया कि बिज़नेस का मामला कहां तक आगे बढ़ा।

माहेश्वर भानु ने घनिष्ठ अन्तरंगता दिखाते हुए बताया कि सब कुछ बस, मेरी प्रतीक्षा में रुका हुआ है। सारी बातचीत पक्की करने के लिए

उसने मुझे शाम को अपने गेस्ट-हाउस में आने का आमंत्रण दिया। उसने कहा कि वह इसी बीच सुबल 'दा को भी आने की खबर भिजवा देगा।

उस दिन शाम ढलते ही मैं माहेश्वर भानु के गेस्ट-हाउस में दूसरी बार हाजिरी देने पहुंच गयी। इस बार मेरे पास गाड़ी नहीं थी। मैं ट्राम में ही गयी थी। मेरे मन में एक बार खयाल भी आया कि सुबल 'दा को भी अपने साथ ही लेती जाऊं, लेकिन जाने कैसा संकोच हो आया। मुमकिन है अब तक वे चले भी गये हों।

उस शाम माहेश्वर भानु का बैरा मुझे दूसरी मंजिल के ड्राइंग रूम में नहीं, बल्कि उनके अंदर महल के कमरे में लिवा ले गया। लेकिन कमरे के अंदर कदम रखते ही मेरे पैर ठिठक गये। माहेश्वर भानु कमरे में अकेला था और उसके सामने ही शराब की बोतल और गिलास रखा हुआ था।

मुझे देखते ही वह मेरी सादर अभ्यर्थना में उठ खड़ा हुआ, "आइये, मैडम, आइये! आज मेरी तबीयत बुरी तरह डाउन है! बिलकुल डेड—थका हुआ हूं...इसलिए जरा मद लेकर बैठ गया! आपको कोई असुविधा तो नहीं होगी?"

खैर, मुझे तो उस कमरे में कदम रखते हुए भी असुविधा हुई थी, लेकिन यह बात कहने लायक नहीं थी।

यूं ऐसा भी नहीं था कि पार्टियों में इसके आम-प्रचलन से मैं परिचित नहीं थी। लेकिन यह पहला मौका था, जब कोई अकेले-अकेले पी रहा था और मैं उससे मिलने आयी थी।

"बैठिये न! कमाल है! खड़ी क्यों हैं?"

"सुबल 'दा अभी तक नहीं आये?" मैंने बैठते हुए पूछा।

"आ जायेगा! उसने कहा है, उसे थोड़ी देर भी हो सकती है। अच्छा, बताइये, आप क्या लेंगी?"

"कुछ नहीं! धन्यवाद!"

मेरी बात जैसे उनके कानों में पहुंची ही नहीं। उन्होंने बैरे को आवाज देकर मेरे लिए नाश्ता लाने का हुक्म दिया।

मैंने झूठ का सहारा लेते हुए कहा, "देखिये, मैं कुछ खाऊंगी नहीं! घर में शोक है, सो मेरे लिए बाहर खाना बिलकुल निषिद्ध है।"

मेरी परम आत्मीया की मौत पर माहेश्वर भान् ने शोक-संवेदना व्यक्त की। उसके बाद मेरे व्यक्तिगत जीवन के बारे में इधर-उधर की बातें करते रहे।

सुबल बाबू की जुबानी वह मेरी विद्या-बुद्धि और कर्म-तत्परता की जाने कितनी कहानियां सुन चुका है। अगर मुझ-जैसी दो-चार लड़कियां और हो जातीं तो देश का नक्शा ही कुछ और होता। मेरे साथ मेरे भाइयों ने जैसा बुरा व्यवहार किया है, वह उन्हें देख लेगा। अगले साल से वह उनको एक पैसे का भी काम नहीं देगा। उन्हें वह और भी कई तरीकों से नीचा दिखायेगा और शुद्ध अधिकारी...? वह तो नंबर वन शैतान है। उसकी राय में उसे इस दुनिया से बिलकुल उड़ा ही दिया जाये...वगैरह ! वगैरह !

इस सारी बातचीत के दौरान वह जिस रफ़्तार से पी रहा था, मेरी तो आंखें बिलकुल विस्फारित रह गयी थीं।

अचानक उसने मेरी आंखों में आंखें डालते हुए पूछा, "क्यों मैडम, जाने की भला ऐसी जल्दी क्या पड़ी है ? मान लीजिये, सुबल बाबू नहीं भी आते, तो भी क्या हुआ ?"

मेरी अन्तरात्मा बुरी तरह कांप उठी। लेकिन अगले ही पल मैंने अपने को संयत करते हुए पूछा, "क्यों ? क्या वे नहीं आयेंगे ?"

माहेश्वर भान् ने ज़ोर का ठहाका लगाया और एक ही घूंट में आधा गिलास खाली कर दिया।

अब उसकी निगाहें मेरे चेहरे से फिसलकर मेरे वक्ष के इर्द-गिर्द घूमने लगीं।

उसने लापरवाही से जवाब दिया, "बात दरअसल यह है कि मैं उसे खबर करना ही भूल गया।"

मैं धीरे-धीरे उठ खड़ी हुई।

अचानक माहेश्वर भान् के गले की आवाज़ एकबारगी बदल गयी, "बैठ जाओ ! यहां जो आदमी तैनात हैं, उन्हें बस एक बार आवाज़ लगाने-भर की देर है, तुम्हारे लिए यहां से निकलने के सारे दरवाज़े बंद कर दिये जायेंगे। देखो, मुझे जानवर बनने को विवश मत करना। आइ एम

गुड मैन ! मैं शरीफ़ आदमी हूं। बेहतर यही है कि तुम इत्मीनान से बैठ जाओ और मेरी बात सुनो..."

वहरहाल मुझे शान्त भाव से बैठना पड़ा। हालांकि मेरे मन के भीतर जो चल रहा था, वह तो मैं ही जान रही थी।

माहेश्वर भान् खिल उठा। उसने अपने गिलास में और थोड़ी-सी शराब उड़ेल ली और उसमें सोडा मिलाते हुए कहा, "देखो, मैडम, सीधी-सच्ची बात यह है कि मैं तुम पर मर-मिटा हूं .सिम्पली डाइंग ! मेरी बीवी...वह औरत नहीं, कुतिया थी। अब उससे पीछा छूट चुका है। अब मैं हाथ-पैर झाड़कर बिलकुल छुट्टा हो चुका हूं। बिलकुल आज़ाद। और यू आर ए वण्डरफुल लेडी ! तुम विलक्षण औरत हो। ऐसी बहादुर। इस कदर आत्मविश्वासी। तुम अगर चाहो तो किसी भी मर्द को एकबारगी स्वर्ग के राजसिंहासन पर बिठा सकती हो, मैडम, और चाहो तो किसी को नर्क की राह भी दिखा सकती हो।"

उसके गिलास उठाते ही मैंने एक बार कमरे में चारों ओर निगाहें दौड़ाकर देख लिया। कमरे के एक कोने में एक छोटा-सा बिस्तर भी लगा हुआ था। खैर, उस अकेले पियक्कड़ से तो मैं किसी तरह निपट सकती थी, लेकिन मुझे असली डर तो उनके बैरों का था।

भान् हंस रहा था, "क्यों, तुम तो एकबारगी चुप लगा गयी, मैडम ! मैंने अपना असली रूप जाहिर कर देने में ज़रा जल्दीबाज़ी से काम लिया है न? लेकिन, भई, तुम भी कोई इतनी बेवकूफ़ तो नहीं हो। तुम्हें रुपया ही चाहिए न। मैं तुम्हें रुपयों के सिंहासन पर बैठा दूंगा।...वह ईडियट...उसी मुकुल ने ही मुझे सलाह दी थी कि मैं ज़रा सब्र से काम लूं। उसने कहा था, थोड़े दिन मैं इंतज़ार कर लूं। बिजनेस के रुपयों से जब तुम लाले-लाल हो उठोगी, तो खुद ही मुझसे मुहब्बत करने लगोगी। तब तुम अपनी मर्ज़ी से मेरी राज-राजेश्वरी दिल की रानी बन जाओगी..." अचानक जैसे उसे कोई बात याद आ गयी, उसने ज़ोर का ठहाका लगाया, "..और हां, उसने यह भी कहा था कि असल में यू आर हिज़ गर्ल ! तुम उसकी माल हो। लेकिन अब तक उसने मेरा ख़याल करके ही तुम्हें कभी हाथ नहीं लगाया, बिजनेस में बड़ा आदमी बनने की गरज़ से उसने ही तुम्हें मेरे

लिए जुटा दिया। लेकिन वह ईडियट यह नहीं जानता था कि जब मेरे सीने में एक बार प्यास जल उठे, तो मुझसे इंतजार नहीं किया जाता। भई, झूठ-मूठ एक बिजनेस शुरू करके खामखाह वक्त बर्बाद करने से क्या फ़ायदा? तुम रुपयों के सिंहासन पर ही तो बैठना चाहती हो? कितना रुपया चाहिए? देखोगी? जस्ट सी..."

उसने लड़खड़ाते हुए कदमों से उठकर पहले दरवाज़ा उढ़का दिया। उसके बाद कांपते हुए हाथों से चाबी घुमाकर कमरे के कोने में स्थित जर्मन-स्टील की अलमारी खोली। अलमारी के अंदर का चोर-दराज़ खोलते ही सौ-सौ के नोटों की अनगिनत गड्डियां दिखायी दे रही थीं। एक संग इतने सारे नकद रुपयों का ढेर शायद मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

वह हंसते-हंसते लौट आया और इस बार सोफे पर बिलकुल मेरी बगल में आ बैठा।

उसने कहा, "मेरे घर पर इसका डबल धन है। और बैंक में कितना पड़ा होगा, इसका थोड़ा-बहुत अन्दाज़ तो खैर तुम खुद ही लगा सकती हो। यह सब...सब कुछ तुम्हारे कदमों तले लोटा करेगा...और उसके साथ-साथ तुम्हारा यह गुलाम भी।"

वह मुझसे और सटकर बैठ गया और एक हाथ से मेरा कंधा दबाने लगा। स्पर्श और शराब की उस मिली-जुली गंध में मेरा तन-बदन फुंकने लगा।

माहेश्वर भान् ने खुशी से गद्गद् होकर कहा, "क्यों, अब तो भरोसा हो गया न कि बेकार वक्त खराब करने से कोई फ़ायदा नहीं होगा। तुम्हें जो चाहिए, वह तो तुम्हें यूं ही मिल जायेगा।"

मेरा दिमाग बेहद तेज़ी से यानी अस्वाभाविक तेज़ी से काम कर रहा था।

अचानक मैं उसकी तरफ़ देखकर मुसकरा उठी, "लेकिन तुम्हारा क्या भरोसा?"

उसकी आवाज़ जैसे रुआंसी हो आयी, "इतना कुछ कहने-सुनने के बाद भी तुम्हें मुझ पर यकीन नहीं आ रहा है? तुम मुझ पर भरोसा नहीं कर पा रही हो?"

"मुझसे ब्याह करोगे न?"

वह खुशी के मारे उछल पड़ा, "हां-हां, क्यों नहीं? कल या परसों... जब तुम हुक्म करो! लेकिन देखो, आज तुम मुझे निराश न करना। आज की रात जन्नत की रात है।"

उसने मुझे बुरी तरह अपनी बांहों में कस लेना चाहा। उसकी ललचायी हुई निगाहें एकबारगी बिस्तर की तरफ जा लगीं। उसने भरपूर ताकत लगाकर मुझे सोफे में उठाकर अपनी ओर खींच लेने की कोशिश की।

मेरे सामने जिन्दगी की चरम अग्नि-परीक्षा थी। मैंने उसे एक झटके में अलग करते हुए, होंठों पर मुसकान और नयनों से कटाक्ष करते हुए कहा, "उफ़! मई-मास से ही यह सब क्या शुरू कर दिया? जरा देर शांत होकर बैठो तो सही! पहले किसी को आवाज लगाकर, मेरे लिए कुछ खाना-पीना मगाओ और उन लोगों से कह दो कि खाना दे जाने के बाद वे लोग इस तरफ न आयें।"

वह आदमी कुछेक मुहूर्त के लिए अविश्वसनीय खुशी से उद्वेलित हो उठा। वह उठकर दरवाजे तक गया और एक जोर की आवाज लगायी। उनकी पुकार पर एक साथ तीन-तीन मूर्तियां हाजिर हो गयीं। उन्होंने उन्हें धमकाते हुए पांच मिनट के अंदर खाना दे जाने का हुक्म दिया, वरना उनकी गरदन उतार ली जायेगी।

इस बीच मैंने अपने हाथ में एक गिलास उठा लिया और बोतल से शराब उड़ेलने लगी। मैंने भानु का गिलास भी लबालब भर दिया। उसके बाद अपने गिलास में पूरी बोतल सोडा मिलाकर होंठों से लगा लिया।

भानु ने पलटकर जो यह दृश्य देखा तो नाचते-नाचते मेरी बगल वाली कुर्सी पर आ बैठा, "यू आर लवली! वाकई तुम मर्दों की प्यास में चिनगारी भड़का सकती हो।" उसने मारे खुशी के, एक चुस्की में ही लगभग आधा गिलास खाली कर दिया।

बैरे लोग हड़बड़ाते हुए खाना लेकर आ पहुंचे। भानु ने उसी तरह दहाड़ते हुए उन्हें फौरन दफा हो जाने का हुक्म दिया। उसने उन्हें धमकाते हुए कहा कि इस कमरे के आस-पास भी अगर उनमें से किसी की शक्ल

दीख गयी तो वह उसे गोली मार देगा। उन्हें नीचे जाकर बैठे रहने का हुक्म दिया। वे लोग सहमकर वहां से हट गये। उनके जाते ही उसने डगमगाते हुए कदमों से कमरे का दरवाज़ा उढ़का दिया।

मैंने मौका देखकर उसका खाली गिलास दुबारा भर दिया और उसमें सोडे की जगह अपने गिलास की खालिस शराब भी भर दी। भान् जब मुड़ा तो उसकी निगाह मेरे खाली गिलास पर ठहर गयी। मैं अपने गिलास में दुबारा शराब ढाल रही थी।

पता नहीं, वह ज़हर था या कुछ और...लेकिन मैं हंसते-हंसते उस तश्तरी की चीज़ें उठा-उठाकर अपने मुंह में डालने लगी। बीच-बीच में शराब का गिलास भी होंठों से लगा लेती थी। मैंने बातचीत में भी यही ज़ाहिर किया कि मैं भान् के बारे में काफ़ी विस्तार से जानने को उत्सुक हो उठी हूं। उसका कौन-सा बिज़नेस कहां है, किस स्थिति में है, कौन-सा बिज़नेस कैसे खड़ा किया गया, भान् की पहली बीवी सचमुच कितनी बेहया थी...इन सब विषयों में अपना कौतूहल दिखाते ही, भान् हर बात को काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर विस्तार में बताने लगा। मेरा सारा ध्यान तो सिर्फ़ शराब की ओर लगा था कि किसी तरह सारी शराब उसके गिलास में उंडेलकर बोतल खाली कर दी जाये।

वैसे यह काम बहुत मुश्किल भी नहीं था। अचानक फ़ोन की घंटी बज उठी। भान अस्फुट स्वर में गाली देता हुआ उठकर फ़ोन तक चला गया और बटन दबाकर लाइन काट दी। उसके बाद उसने फ़ोन का रिसीवर उतारकर अलग रख दिया और दुबारा कमरे में लौट आया। इसी बीच मैंने बोतल की बची-खुची शराब उसके गिलास में उंडेल दी थी।

उसके कमरे में आते ही मैं यथावत् मुसकराती रही और प्लेट का खाना इधर-उधर बिखेरती रही। उसकी बातें बेहद ध्यान से सुनने का बहाना बनाती हुई मैं मन-ही-मन मौके की प्रतीक्षा कर रही थी।

उसका एक हाथ सांप की गति से मेरी पीठ और कन्धे पर रेंगने लगा। लेकिन आखिरी गिलास खत्म करने तक वह सीधा होकर बैठ भी नहीं पा रहा था। अतः मैंने मुसकराते हुए खुद ही वह गिलास उसके होंठों से लगा दिया।

गिलास खत्म करके वह मेरे कंधों का सहारा लिये हुए किसी तरह उठकर खड़ा हो गया। ऐसी बुरी हालत में भी उसकी निगाहों में वही नर्क की गंदगी झलक रही थी।

मैं भी उठकर खड़ी हो गयी। अचानक उसे ज़ोर का धक्का लगा। वह मेज़ के बीच में लुढ़कता हुआ सीधे कुर्सी में जा टकराया और वहां से सीधे ज़मीन चूमने लगा। हां, मैंने अपनी भरपूर ताकत से उसे धकेल दिया था और वह छिटककर मेज़ से टकराता हुआ ज़मीन पर सीधे मुंह के बल गिरा। उसमें इतनी क्षमता या ताकत भी नहीं थी कि वह करवट लेकर सीधा हो सके।

मैं पलक झपकते ही दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आयी और ज़ीने से नीचे उतर गयी। नीचे बैरे लोगों का जमघट लगा हुआ था। मुझे देखकर वे लोग हड़बड़ाते हुए उठ खड़े हुए और ज़ोर का सलाम ठोंका। लेकिन उनकी आंखों में जो भाव झलक आया था, वह सिर्फ मैं ही जानती हूं।

उस समय मेरा ध्यान अन्यत्र कहीं नहीं था। मैं कोठी से निकलकर सीधे रास्ते पर आ खड़ी हुई और एक टैक्सी में बैठते हुए उसे चलने का इशारा किया।

मैं काफी स्पीड पर गाड़ी चला रही थी। उस वक्त कहां और किस ओर जा रही थी, मुझे इसका भी होश नहीं था।

अचानक नसों का खून जैसे उबल पड़ा, अंग-अंग एकबारगी दहक उठा। रग-रग में मानो हत्या का क्रूर उल्लास आ समाया। अचानक सुवल 'दा दीख गये थे। गाड़ी का धक्का खाते ही वे छिटककर दूर जा गिरे। लेकिन सिर्फ इतने-भर से किसी की हत्या कर डालने की चाह कहीं से कम नहीं हुई। मैंने झट् से गाड़ी पीछे की और उस गिरे हुए व्यक्ति को दुबारा कुचल दिया। इसी तरह कई-कई बार गाड़ी आगे-पीछे करते हुए उसकी देह को पहियों के नीचे पीसकर भुर्ता बना डाला यानी उसे कुट्टी-कुट्टी करके मिटाकर मिट्टी में मिला दिया।

चारों तरफ़ जनता दौड़ती चली आ रही थी।

मैं हड़बड़ाकर विस्तर से उठ वैठी। अभी तो वस, आधी रात वीती थी। मैं पसीने से नहा उठी थी। कैसा अजीव सपना था! मेरी सारी देह थर-थर कांप रही थी।

...अचानक मुझे लगा, मैं शायद अपने घर में नहीं हूं। नहीं, यह मेरे कमरे का विस्तर नहीं है। मैं तो आज सुवह ही हमेशा के लिए घर छोड़कर चली आयी थी। हां, घर से निकलते वक्त मेरा चेहरा विलकुल शान्त और दिमाग वेहद ठंडा था। मेरे आने की वात सुनकर माधवी और करवी की तो जैसे आवाज ही गूंगी हो गयी। छोटे भइया भी अवाक्।

मंझले भइया ने सिर्फ़ इतना ही कहा, "तू हम सवको इतना गलत समझकर, यह सव पागलपन क्यों कर रही है? लेकिन अगर तू सचमुच जा रही है, तो मैं तुझे रोक भी कैसे सकता हूं? खैर, कभी कोई ज़रूरत पड़े तो यह मत भूलना कि हम लोग तेरे अपने हैं।"

हालांकि यह किसी ने भी नहीं चाहा था कि मैं एकदम से घर छोड़कर चली जाऊं, लेकिन यह वात भी लोगों के अनुमान के परे थी कि लड़की होने के वावजूद किसी को उतना अहंकार भी हो सकता है।

मैं नौकरीपेशा लड़कियों के मेस का पता लगाकर सीधे वहीं जा पहुंची और किराए पर एक कमरा लेकर रहने लगी थी। सिर्फ़ यज्ञेश्वर ही ऐसा निकला, जो मेरे लिए फूट-फूटकर रोता रहा था। वह मेरे साथ-साथ यहां तक आया था और मेरा कमरा ठीक-ठाक करके वापस लौट गया था। अव वह भी उसे घर में टिकने को तैयार नहीं था।

उसने मुझसे पूछा, "मेरा क्या इन्तजाम सोचा है, दीदीमणि? मैं कहां रहूं?"

मैंने ही उसे समझाया, "अभी तुम जहां हो, वहीं रहो। अपना कोई पक्का इंतज़ाम होते ही मैं तुम्हें अपने पास वुला लूंगी।"

उस दिन मैं अंधेरे में ही आंखें गड़ाये चुपचाप वैठी रही। उस सपने की याद आते ही समूचे शरीर में जैसे कांटे चुभने लगे।

अगले दिन सुवह हुई, सुवह से दोपहर और दोपहर से शाम हो आयी। मैं मन-ही-मन जैसे किसी घटना की प्रतीक्षा में थी; शायद मैं किसी की राह देख रही थी।

शाम होने में अभी भी कुछ देर थी। मेस के नौकर ने आकर खबर दी, "आपको एक बाबू साहब बुला रहे हैं।"

अच्छा, उस वक्त क्या मैं चौंक पड़ी थी? शायद नहीं! मैं जानती थी, कौन आया होगा और, मैं यह भी महसूस कर रही थी कि आज दिन-भर मैं उसी की राह देख रही थी।

मैंने नौकर से कहा, "उन्हें यहीं बुला लाओ।"

थोड़ी देर बाद शुद्ध अधिकारी कमरे में आकर खड़ा हो गया। उसने उस छोटी-सी कोठरी में चारों तरफ निगाहें दौड़ाते हुए हंसने की कोशिश की, "यज्ञेश्वर से जाकर पता जुगाड़ किया, तब यहां तक पहुंचा हूं।"

"बैठिये..."

तख्त पर ही बिस्तर बिछा हुआ था। बैठने के लिए कोई अलग कमरा नहीं था। वह भी उसी तख्त पर बैठ गया।

मैंने पूछा, "चाय पीजियेगा?"

"हूं...पी सकता हूं। लेकिन तुम क्या चाय का इंतजाम भी साथ लेकर घर से निकली हो?"

आज भी उसका 'तुम' कहना मेरे कानों को चुभ गया। लेकिन उस वक्त उन बातों को लेकर बेकार बहस करने का मन नहीं हुआ। मैंने दरवाजे के बाहर निकलकर इशारे से उस नौकर को बुलाया। उसके आने पर मैंने दरियाफ्त किया, "दो प्याली चाय मिल सकती है?"

मेस की लड़कियों के लिए चाय लाने-ले जाने का काम उसी के जिम्मे था। वह सिर हिलाकर चला गया।

मैं कमरे में वापस लौट आयी और तख्त के एक किनारे पर बैठ [illegible]

"हां तो, अब बताइये!"

उसका चेहरा ईषत् बुझ आया, "अब बताने को [illegible] घूम-फिरकर यही कुछ होना था।"

"हां।"

अचानक हम दोनों ही बेहद चुप हो आये। [illegible] आया था। हमें प्याली पकड़ाकर वह लौट गया।

थोड़ा ठहरकर मैंने बेहद शांत भाव से [illegible]

मेरा पता लेने की ऐसी उतावली क्यों थी ?...और यहां भी भला आप अब किस उम्मीद में आये हैं ?"

उत्तर में चाय की प्याली होंठों से लगाते हुए मेरी ओर परखती हुई, स्थिर निगाहों से देखा। उसका चेहरा गंभीर हो आया, लेकिन आंखों में अब भी कौतूहल की छाया थी। उसने बेहद सधी हुई आवाज़ में जवाब दिया, "मेरा खयाल था कि मेरे आने का मतलब तुम खुद ही समझ गयी होगी !"

"हां, समझ तो गयी हूं ! लेकिन बड़ी मां मुझे सब जोड़-जाड़कर कुल चालीस हज़ार रुपये दे गयी हैं। बस !...इसके अलावा मुझे और भी कुछ, कहीं से मिल सकता है, इसकी कतई उम्मीद नहीं है ! अब तो बिज़नेस से भी मेरा कोई वास्ता नहीं रहा।"

वह जैसे अचकचा गया, उसने चाय की प्याली रखते हुए पूछा, "लेकिन...मैंने तो सुना था कि तुम्हें पांच सौ रुपये महीना भी मिला करेंगे !"

मैंने तल्ख आवाज़ में जवाब दिया, "भइया लोग अब उससे भी मुकर गये हैं !"

"खैर, अब तुम क्या करोगी ?"

"जहां तक मेरी चिन्ता का सवाल है, वह मैं खुद कर लूंगी। लेकिन अब आप किस उम्मीद में यहां आने-जाने का सिलसिला कायम रखेंगे ?"

उसके चेहरे पर हल्का-सा, विस्मय उभर आया। वह पल-भर के लिए मेरी तरफ़ खामोश निगाहों से देखता रहा। फिर अचानक बेहद सधी हुई आवाज़ में प्रश्न किया, "तुम क्या यह सोचती हो कि मैं तुम्हारे रुपयों के लिए तुम्हारे पीछे लगाथा ?" उसके बाद उसकी आवाज जैसे गुम हो गयी। कुछेक मुहूर्त के लिए वह मेरा चेहरा पढ़ने की कोशिश करता रहा। अचानक अतिशय बेबाक लहजे में कहा, "कभी मेरे बाबू तुम्हें अपनी बनाना चाहते थे, अब मैं भी चाहता हूं। बस, इससे अधिक मैंने कभी कोई उम्मीद नहीं की।"

मैंने छूटते ही जवाब दिया, "तो फिर मुझे भी कोई एतराज नहीं है।" मेरी स्थिर संयत निगाहें उसके चेहरे पर टिक गयीं, "लेकिन...

इसके एवज में मैं बहुत...बहुत कुछ चाहती हूं। मेरी ढेर-ढेर मांगें हैं। मैं चाहती हूं कि मेरे पास इतनी...इतनी दौलत हो जाये कि...भइया लोग भी मेरे आगे अपने को छोटा महसूस करें। मैं इत्ती-इत्ती अमीर हो जाऊं कि उनकी आंखें भी मेरी ओर अचरज से फैली रह जायें!...और जो शख्स मेरे लिए ऐसा पक्का बिजनेस खड़ा कर देगा, मैं उसकी दासी तक बनने को राजी हूं।"

वह हंस दिया, "यह सब तो खैर, तुम उत्तेजना में कह रही हो।"

"नहीं! यह मेरा आखिरी फैसला है।"

शुद्ध अधिकारी जरा सोच में पड़ गया। उसने कहा, "मैं जिस नौकरी में हूं, उसमें बने रहकर, अगर मैं किसी के साथ पार्टनरशिप का बिजनेस करूं तो थोड़ी-बहुत अतिरिक्त आमदनी जरूर हो सकती है, लेकिन वह तो बहुत मामूली-सा होगा। जैसा तुम चाहती हो .."

"मैं भी किसी छोटे-मोटे टुटपुंजिये बिजनेस की बात नहीं कर रही। मैं तो कोई बहुत बड़ा बिजनेस चाहती हूं, चाहे वह किसी भी तरह का बिजनेस क्यों न हो"

वह हंस पड़ा, "यानी मोटी-सी बात यह है कि तुम चाहती हो कि तुम्हारे पास इतना-इतना रुपया हो जाये, कि तुम्हारे भाई लोग भी दांतों-तले उंगली दबा लें और अपने को तुम्हारे आगे बौना महसूस करें। यही न?"

"हां।"

"लेकिन इसमें थोड़ा समय लगेगा।"

"समय देने को मैं तैयार हूं। वैसे मैं खुद भी अपनी जान लड़ाकर उसका हाथ बटाऊंगी।"

उसने ज़ोर का ठहाका लगाया, "इस जमाने में यह कोई बहुत मुश्किल काम नहीं है, भई, जिसके लिए जान लगाने की जरूरत पड़े। बस, मुझे थोड़ी-सी मुहलत की जरूरत है। इत्ता-सा काम तो मैं अकेले ही कर लूंगा। लेकिन सुनो, यह राह उतनी सीधी नहीं है। इतने दिनों तक बापू की आज्ञाओं का अक्षर-अक्षर पालन करते हुए बहुत बड़े-बड़े लोगों को जीत चुका हूं..."

"खैर, अगर आप चाहें तो यह लोभ भी जीत सकते हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन इसके बाद खामखाह यहां तक दुबारा चक्कर लगाने की तकलीफ़ मत कीजियेगा।"

"यानी यह तुम्हारा आखिरी फैसला है?"

"हां।"

"लेकिन इस काम में जितना समय लगेगा, उस बीच तुम्हारे भाई लोगों को थोड़ा-बहुत अवाक् कर देने लायक...कोई और मालदार आसामी टपक पड़ा तो...?"

अनजाने में ही मेरे चेहरे पर अजीब-सा क्रूर भाव झलक आया। मैंने जवाब दिया, "आपको क्या लगता है? अगर कोई ऐसा आदमी मिल भी गया तो मैं आपको इस काम में लगाकर उसका दामन थाम लूंगी?"

"नहीं, लेकिन इस वक्त तुम्हारी जो मनःस्थिति है, उसे देखते हुए... महज़ एक खयाल आया था।"

"मनःस्थिति जैसी है...अब तो खैर, हमेशा ही ऐसी रहेगी। लेकिन अगर आपको मेरी बातों पर यकीन न आ रहा हो, तो हमारा आगे न बढ़ना ही बेहतर है।"

वह काफ़ी गौर से मेरा चेहरा पढ़ता रहा। उसकी परखती हुई निगाहें क्रमशः नीचे की ओर उतरती गयीं...छाती से लेकर बिलकुल नीचे तक! उसके गोरे-चिट्टे चेहरे पर जड़ी हुई आंखों की धीर-गंभीर पुतलियों में वासना के नन्हे-नन्हे दीप जल उठे। उसकी दृष्टि में पुरुषोचित दृढ़ता लहक उठी।

उसने कहा, "देखो, तुम इतनी नासमझ तो नहीं हो कि अब तक भी मुझे पहचान नहीं पायी हो। मैं तो बहुत पहले से ही तुम्हारी तरफ़ बढ़ चुका हूं...अब लौटने का कोई इरादा नहीं है। वैसे इस काम में बहुत अधिक वक्त तो नहीं लगना चाहिए। लेकिन जब तक हम कामयाब नहीं हो जाते, तुम क्या करोगी?"

"अभी कुछ सोचा नहीं है, लेकिन मेरे लिए परेशान होने की जरूरत नहीं है।"

थोड़ी देर के लिए वह दुबारा गुम हो गया। अचानक वह अपने

मन की सारी दुविधाएं झटककर हंस पड़ा, "देखो, मैंने तुमसे एक दिन कहा था न...हमारे इस मुल्क में 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का जमाना है। जो लोग हमेशा सीधी-सच्ची राह पर चलने का फैसला लेकर आगे बढ़ते हैं, कभी-कभी वे लोग भी बहुत कुछ कर गुजरते हैं। तुमने जो मांगा है, मेरे लिए वह जरा भी मुश्किल नहीं है। बल्कि मुझ जैसों के लिए यह काम शायद और लोगों से अधिक आसान है। पता नहीं किसके आशीर्वाद से मुझको इतनी ताकत मिली है। लेकिन इतनी ताकत के बावजूद, कहीं कुछ था, जो मुझे इस कुएं में छलांग लगाने से हरदम रोक लेता था। आज तुमने वह रुकावट भी दूर कर दी। ठीक है, मुझे तुम्हारी हर बात मंजूर है।...अब यह बताओ कि हमारी मुलाकात कहां हुआ करेगी? यहीं न?"

"अगर आप चाहें तो यहां भी हो सकती है, वर्ना आप जहां भी हुक्म करेंगे, मैं हाजिर हो जाऊंगी।"

इस बार उसकी निगाहें मेरे पैरों से ऊपर की ओर उठती हुई, धीरे-धीरे मेरे चेहरे पर आकर थिर हो गयीं। उसके होंठों पर मुसकराहट नाच उठी। आंखों में वही उद्दाम वासना की लहर।

अचानक वह तख्त छोड़कर एकदम से उठ खड़ा हुआ, "ठीक है! तो आज मैं चलूं।"

और मेरे देखते-ही-देखते वह मेरी आंखों से ओझल हो गया। मैं उसी तरह बैठी रही—निश्चल! खामोश!

...लगभग तीन वर्ष।

लगातार इन तीन सालों में क्या मैं बिलकुल पागल हो गयी थी? या धीरे-धीरे पागल होती जा रही थी?

मैं अपनी आंखों से देख रही थी एक इन्सान अमोघ लेकिन दुर्निवार गति से दौड़ता चला जा रहा था! मुझमें तो इतना-सा होश भी बाकी नहीं था कि दरअसल वह नर्क की ओर बढ़ रहा था या स्वर्ग की ओर। लेकिन इस सचाई से कतई इनकार नहीं किया जा सकता था कि उसकी गति में सचमुच किसी मर्द की पगध्वनि थी। उस दुर्धर्ष और दु

रफ्तार के मुहाने पर खड़े-खड़े...एक-एक करके पूरे तीन साल गुज़र गये। कभी-कभी मुझे ऐसा महसूस होता था मानो किसी दुर्धर्ष, बीहड़ पुरुष की रफ़्तार की लगाम, मेरे हाथों में आ पड़ी हो। मैंने भी किसी अंधे क्रोध से जलते हुए वह लगाम स्वतः ही ढीली छोड़ दी थी...और अब उसे लौटाने या रोकने की सामर्थ्य स्वयं मेरे भी हाथों से छूट चुकी थी।

हालांकि उसे रोक लेने का खयाल मेरे मन में बहुत-बहुत देर से आया था। शुरू-शुरू में, करीब डेढ़ साल तक तो मुझ पर जैसे कोई नशा सवार था।

घर छोड़ने के कुछ ही दिनों बाद मैंने भी एक गर्ल्स स्कूल में नौकरी कर ली। हां, मैंने कुछ ही दिनों में जान लिया था कि वह आदमी अपने इस दुर्धर्ष, जी-तोड़ अभियान में मुझे अपने साथ हरगिज़ नहीं लेगा। वैसे मुझे भी उसके अभियान की सफलता पर पूरी तरह भरोसा तो नहीं था, लेकिन जितना उसे जाना था, उससे थोड़ी-बहुत उम्मीद जरूर बंधने लगी थी।

बी० ए० ऑनर्स में मेरा रिजल्ट अच्छा था। एम० ए० का रिजल्ट भी खास बुरा नहीं था। अगर मैं कोशिश करती तो शायद किसी कॉलेज में आसानी से नौकरी मिल जाती, लेकिन नौकरी करना मेरा ध्येय नहीं था। वैसे कॉलेज में पढ़ाने लायक लिखने-पढ़ने का धैर्य भी मुझमें नहीं था। अतः मैंने स्कूल की नौकरी ही चुन ली। इस बीच भइया लोग दुबारा आये थे। मुमकिन है, इतने दिनों में शायद उन लोगों ने भी यह महसूस किया हो कि उनके बिज़नेस में बहुत न सही, लेकिन थोड़ी-बहुत मेरी भी जरूरत थी। उनके साथ न तो अब सुबल 'दा थे, न शुद्ध अधिकारी और न मैं। इस बीच माहेश्वर भान् ने भी एक झमेला खड़ा करके, उनके कॉन्ट्रैक्ट रद्द कर दिए थे। अतः वे लोग शायद अपनी गरज से ही मेरे पास आये थे।

उन्होंने कहा, "जब तुझे नौकरी ही करनी है, तो भला हमारी फर्म ने कौन-सा दोष किया है? उस नौकरी में तुझे जितना मिलेगा, वह मां के पांच सौ रुपये महीने के इन्तजाम से कहीं अधिक होगा।"

मैंने उन्हें असंख्य धन्यवाद देकर लौटा दिया था।

सुना है, वे लोग शुद्ध अधिकारी के पास भी गये थे। उसने भी दो-टूक

जवाब दे दिया कि अब उनको पाना नामुमकिन है।

शुरू-शुरू में करीब छह महीने बाद ही शुद्ध अधिकारी ने कई एक बैंकों के पास-बुक मेरे सामने फेंककर कहा, "देख लो, इनमें इक्यावन हजार रुपये हैं और ये रहे चौदह हजार रुपये नकद! ये रुपये पास-बुक में जमा करना सम्भव नहीं था। इन्हें भी अपने ही पास रख लो।"

उस दिन मैंने उस पास-बुक या रुपयों को हाथ भी नहीं लगाया।

मैंने कहा, "यहां रखना सुरक्षित नहीं है। कहीं और इन्तजाम करना ही बेहतर है।"

लेकिन यह सच है कि उस दिन मैं मन-ही-मन बेतरह रोमांचित हो उठी थी।

मैंने पूछा, "इतने रुपये आये कहां से?"

उत्तर में वह खिलखिलाकर हंस पड़ा। उसने कहा, "इस 'अंधेर नगरी चौपट राजा' के राज्य में अगर किसी को बटोरना आता हो तो रुपये चारों ओर बिखरे पड़े हैं। आजकल परमिट का जमाना है। चावल, दाल, तेल-नमक, धोती-साड़ी, लोहा-लक्कड़ इत्यादि का परमिट। टैक्सी बस-लॉरी का परमिट। परमिट-दाता अगर हमारी मुट्ठी में हो तो भला यह कौन-सा बड़ा रुपया है! इसके अलावा और भी कितना कुछ है। तरह-तरह के टेंडर, तरह-तरह की मजूरी, किस्म-किस्म की सामाजिक योजनाओं के लिए मशीन-पुर्जे—इन सबके बहाने लाखों-लाखों रुपयों का लेन-देन होता है। तुम थोड़े दिन और रुक जाओ न। अभी तो मैं महज टोह ले रहा हूं...यानी जाल फैलाने की तैयारी में हूं।"

मुझे जाने कैसा झटका-सा लगा।

मैंने कहा, "लेकिन इसे तो ईमानदारी का बिजनेस नहीं कहते।"

"ईमानदारी का बिजनेस नहीं है?" शुद्ध अधिकारी की भौंहें चढ़ गयीं, "इस जमाने में जिनके पास बुद्धि है, उनके लिए इससे बेहतर बिजनेस कोई है? सिर्फ आपस में बातचीत करा दो, यानी एक छोटा-सा बटन दबा दो और गड्डी-गड्डी रुपये लेकर निकल आओ। कम-से-कम मेहनत और अधिक-से-अधिक ईनाम। इसे ही तो कहते हैं महान् आर्ट...यानी महान् कला! खैर, तुम्हें तो सिर्फ रुपयों से मतलब है न? बस, तुम रुपये

गिनती जाओ, और किसी वात में दिमाग मत खराव करो।"

सचमुच, साल पूरा होते-न-होते जैसे कोई जादू हो गया। अगले डेढ़ साल वाद चुनाव की तैयारी चल रही थी। प्रशासक पार्टी के रथी-महारथियों से शुद्ध अधिकारी की दांत-काटी रोटी थी। अव उसने अपनी नौकरी भी छोड़ दी थी। राइटर्स-विल्डिग के कर्णधारों के साथ उसका हर दिन कोई-न-कोई एप्वायंटमेंट। उसकी अटूट दौलत और रुपये कमाने की ललक देख-देखकर कभी-कभी मेरा ही सिर चकराने लगता था।

साल वीतते-न-वीतते उसनें अपना घर भी छोड़ दिया और निहायत फैशनेवुल फ्लैट किराए पर ले लिया।

मैंने पूछा, "अव इसकी क्या जरूरत आ पड़ी ?"

उसने हंसकर जवाव दिया, "भई, मेरे घर में अभी तक वही वाप-दादों का राज्य चल रहा है। भइया-भाभी लोग इस महंगाई के जमाने में भी झूठ-मूठ के आदर्शों से चिपके वैठे हैं। सत्यनारायणजी की नित्य-नैमित्तिक कथा-पूजा अभी भी ज्यों की त्यों वरकरार है। अव वहां रहते हुए मेरे विवेक को चोट लगती है। लगता है, मेरे वावू जैसे किसी अज्ञात-अदृश्य कोने से मेरी तरफ आंखें फाड़-फाड़कर घूर रहे हैं। सो, वह घर छोड़ दिया। अव उन सव रोज-रोज के झमेलों से विलकुल निश्चिन्त।"

उसकी वातें मन को कहीं से वुरी तरह घायल कर गयीं।

मैंने थोड़ी देर खामोश रहने के वाद अपनी राय जाहिर की थी, "सुनो, जहां तुम्हारा विवेक आहत होता हो, ऐसी राह से तो मैंने रुपये कमाने को कहा नहीं था।"

उसने जवाव दिया, "तुम्हें कुछ पता नहीं है। आज के जमाने में विवेक नामक वस्तु को निर्वासन दिये विना, जितनी दौलत तुम चाहती हो, उतना रोजगार करना नामुमकिन है। अगर तुम गौर से देखने की कोशिश करो, तो तुम्हें पता चलेगा सव यही करते हैं। दरअसल रुपये कमाना नितांत व्यावसायिक मसला है। तुम्हारी किसी खामखयाली के जाल में उलझना नामुमकिन है। खैर, तुम जो चाहती थीं, वह सव-का-सव कैसे मिलता जा रहा है। वस, तुम जादू की करामात

देखती जाओ।"

मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रही थी कि अचानक मुझमें इतनी छटपटाहट कहा से आ समायी थी। लेकिन मन में कहीं गहरी बेचैनी जाग उठी थी। यज्ञेश्वर भी अब उस मकान में नहीं रहना चाहता था। मैंने उसे शुद्ध अधिकारी के यहा रहने को कह दिया था। वह भी वहां जाकर काफी मौज में था। अकसर ही वह मेरे पास चला आता था और मेरे सामने बैठे-बैठे अपने बाबू साहब की कार्यकुशलता के किस्से सुनाने में विभोर हो जाता था। देश का कौन-सा मूर्धन्य नेता कब उसके घर आया, यह यही बताना न भूलता था।

लेकिन क्रमश उसके चेहरे का भी भाव बदलने लगा। उसकी भी आंखों में चिन्ता की छाया उतरने लगी। वह इतना मूर्ख भी नहीं था कि शुद्ध अधिकारी के साथ मेरे भावी रिश्ते की बात न समझता हो।

एक दिन उसने मुझसे खोलकर कहा, "रुपया, रुपया करके अपने दादाबाबू पर रुपयों का जैसे नशा सवार हो गया है, दीदीमणि! अब तुम्हें भी जरा सख्ती से काम लेना चाहिए।"

उसकी जुबानी पता चला कि इस भुखमरी के समय जाने कहा, कितने हजार मन चावल छिपा दिया गया है और किसी आदमी को लाखों-लाखों रुपयों का फायदा कराने का सौदा पक्का हुआ है, उसने सारी बातचीत खुद अपने कानों से सुनी है।

उसने खबर दी थी, "अब घर में कितने-कितने मेहमान आने लगे हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं है। अब तो तरह-तरह की छोकरियों का भी आना-जाना शुरू हो गया है। मुझे ये सब आसार अच्छे नहीं दीख रहे हैं, दीदीमणि!"

दो साल बीतते-न-बीतते खुद मेरे मन में भी जाने कैसा आतंक आ समाया। अगर ये सब घटनाएं मेरे कानों तक नहीं भी पहुंचतीं, तो भी मैं अन्दर-ही-अन्दर महसूस कर रही थी कि शायद मुझमें भी इतनी ताकत नहीं है कि उस वहशी दौड़ में उसके साथ कदम मिलाकर दौड़ सकूं। नहीं, लड़कियों का आना-जाना सुनकर भी मेरे मन में ऐसी कोई आशंका नहीं जागी थी। मुझे अपने इतने करीब पाकर भी उस इन्सान को लोभ से

असंयत होते हुए कभी नहीं देखा था। उसके मन में दौलत का नशा खुद मैंने जगाया था, लेकिन किसी दिन यह नशा मुझसे भी अधिक अहम् हो उठे, सचमुच मैंने क्या यही चाहा था? शायद नहीं। चरम एकान्तिक पलों में जब मैं उसके बेहद-बेहद करीब होती थी, अगर कभी-कभार उसकी लोभी निगाहें किसी मंत्रमुग्ध मुद्रा में मेरे प्रति असंयत हो उठती तो भगवान जाने मैं नाराज होती या नहीं। लेकिन ना! मैंने तो उसे कभी अपने प्रति भी असंयत होते हुए नहीं देखा। उसने कभी भूले से भी मुझे छूने की कोशिश नहीं की। हां, कभी-कभार उसकी आंखों में एक अजीब-सी चमक लहक उठती थी, लेकिन उसने अपने बाहरी आचरण में उसे कभी प्रश्रय नहीं दिया। लेकिन मेरी छटपटाहट दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी।

उस दिन मैंने ही बात छेड़ते हुए कहा, "जानते हो, अपने यज्ञेश्वर को तुम्हारे चाल-चलन पर अब थोड़ा-थोड़ा शक होने लगा है।"

उसने भी हंसकर पूछा, "क्यों? शराब पीता हूं, इसलिए?"

"सुनती हूं, बहुत पीने लगे हो?"

"देखो, मेरी डिक्शनरी में 'बहुत' नाम का कोई शब्द नहीं है! नसों की गर्माहट कायम रखने के लिए जितनी पीना ज़रूरी है, उतनी ही पीता हूं।"

"लेकिन आजकल आपकी नसों में इतनी ठंडक कहां से आ समायी है?"

"इसे कहते हैं नशा। घोर नशा।...जब्बर नशे की लत लगा दी है तुमने! इसके आगे कमबख्त शराब भी कहां ठहरती है?"

मैं अवाक् रह गई। अन्दर-ही-अन्दर अजीब-सा दंश। यन्त्रणा का अहसास।

मैंने हंसकर दूसरी बात चलायी, "सुनती हूं, आजकल घर में लड़कियों का आना-जाना बहुत बढ़ गया है?"

उसने भी मुसकराते हुए आंखें तरेरकर कहा, "मैं न कहता था कि इस यज्ञेश्वर के बच्चे को फ़ौरन दफा करो। वह कमबख्त एक-न-एक दिन मुझे फुटपाथ पर ला खड़ा करेगा।"

उसने थोड़ा ठहरकर दुबारा कहा, "लड़कियां भी रुपये कमाने के लिए एक खूबसूरत जाल हैं— यह बात तुम्हारे लिए क्या नयी है?... बहरहाल, डरने की कोई बात नहीं है। जो लड़कियां आती हैं, उनमें से एक भी तुम्हारे जैसी नहीं है। सब अपने-अपने मतलब से आती हैं और उनकी बदौलत थोड़ा-बहुत मेरा भी स्वार्थ सिद्ध हो जाता है।"

मेरी जुबान को जैसे लकवा मार गया हो।

आम-चुनाव से छह महीने पहले से ही शुद्ध अधिकारी का रौब-दाब और उद्भ्रान्त दौड़ जैसे चौगुना हो उठा। मामूली-मामूली कामों के ऐवज वह जिस परिमाण में रुपये बटोर रहा था, वह भी नितान्त अविश्वसनीय ही लगा था। हां, उसी अनुपात में उसका मन-मिजाज भी बदलता जा रहा था। उसके किसी भी काम या किसी भी इच्छा में रोक-टोक करते ही वह झुंझला उठता था और अतिशय झुंझलाहट के पलों में वह बुरी तरह उत्तेजित भी हो उठता था। अब तो वह मुझे भी डांटकर चुप करा देने में जरा भी संकोच महसूस नहीं करता था।

अगले दिन छुट्टी थी। मैंने शाम को उससे कहा, "चलो, कल हम-तुम कहीं घूम आयें।"

उसने जवाब दिया, "हां-हां, क्यों नहीं! अरे भई, कल हमारी पार्टी के फंड के लिए तीन-तीन जबर्दस्त मुवक्किलों से एप्वान्टमेंट है।"

मैं चुप हो आयी। मेरे अन्दर की बेचैनी मानो तीखी यातना की तरह मुझे तोड़ने में लगी थी।"

ऐसे ही एक दिन उसने हंसते हुए ही बात शुरू की, "अब शायद अधिक दिनों तक इन्तजार न करना पड़े। मुमकिन है चुनाव के बाद हम दोनों भी जुट जाएं।"

मैंने भी हंसकर ही जवाब दिया, "इससे पहले तुम जरा अपनी भाषा को मांज-घिसकर शरीफ बना डालो।"

उसने प्रतिवाद में जोर का ठहाका लगाया, "क्यों? गांठ जोड़ने के लिए भाषा की तो कोई शर्त नहीं थी, शर्त थी तो बस रुपयों की।"

मुझे एकबारगी धक्का लगा, फिर भी मैंने हंसते हुए सवाल किया—

"अच्छा, मान लो, अगर अब वह शर्त बदल दी जाए तो ?"

"तो मैं कहूंगा, तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। और ऐसी सिरफिरी, पागल लड़की के साथ मेरा गुजारा मुश्किल है। इन्सान महज़ किसी के चाहने-भर से अपने को दस-दस बार नहीं बदल सकता। खैर, छोड़ो ये बातें। हां, तो मैंने जो कहा, तुमने सुन लिया न ? चुनाव खत्म होते ही तुम्हें मेरे कंधे पर सवार हो जाने में कोई एतराज तो नहीं है न ?"

मेरे मन में जाने कैसे दर्द ने करवट ली।

मैंने कहा, "नहीं, एतराज तो मुझे आज भी नहीं है।"

मेरा उत्तर सुनकर वह खुश हो गया। लेकिन उसने जो जवाब दिया, उससे मुझे कतई खुशी नहीं हुई।

उसने कहा, "यह चुनाव बीत जाने दो। इससे पहले तो दम लेने की भी फुर्सत नहीं है।"

मेरे मन में जाने क्या खयाल आया। मैंने पूछा, "लेकिन अगर चुनाव हार गये तो ?"

यूं चारों तरफ़ अभाव-ही-अभाव का शोर मचा हुआ था। चावल नहीं, चीनी नहीं, तेल नहीं, पहनने को कपड़े तक नहीं। लेकिन शुद्ध अधिकारी की महफ़िल में सब कुछ इतनी प्रचुर मात्रा में मौजूद था कि सब कुछ आंखों में कांटों की तरह चुभता रहता था। चीजों की बेभाव बर्बादी, शराब का दौर-पर-दौर, हंसी, कहकहों और होहुल्लड़ का शोर। उस रात बहुत-सी परिचित-अपरिचित महिलाएं भी पार्टी में आयी थीं। शराब के नशे में उन लोगों को लेकर जो लीलाएं चल रही थीं, वह भी मेरे बर्दाश्त के बाहर था। उस महफ़िल में जो अभ्यागत मेहमान आये थे, वे भी मानो चुन-चुनकर ऊंचे महल के लोग थे।

मैंने मौका पाकर शुद्ध अधिकारी से पूछ ही लिया, "इतनी सारी लड़कियां तुमने कहां से जुगाड़ कर लीं ?"

उसने भी धीमी आवाज में ठिठोली करते हुए कहा, "ये लड़कियां अपनी ही गरज़ से पार्टी में शामिल होने के लिए हमेशा एक पांव आगे बढ़ाये रहती हैं। मैं तो महज औपचारिक निमंत्रण भर भेज देता हूं। उसके बाद कौन किसके साथ गठबंधन करके हवा हो जाये, इस बारे में मैं अपना दिमाग खराब नहीं करता। अपनी किस्मत में तो परमिट, टेंडर और लाइसेंस वगैरह सीधी-सादी राहों से होकर आनेवाले लाख-पचास-हजार के रूखे-सूखे नोट-भर ही लिखे हैं।"

जाने क्यों मेरी छाती बुरी तरह धड़कने लगी थी।

मैं चाहकर भी उस हंसी-खुशी में अपने को शामिल नहीं कर पा रही थी।

इसी बीच एक साहब हाथ में शराब का गिलास लिये हुए मेरी बगल में आ बैठे।

उन्होंने हंसकर लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा, "इस आनंद-हाट में आप इतनी चुपचाप क्यों हैं ?"

इतना कहकर वह महाशय मुझसे और सटकर बैठ गये। मैंने सौजन्यता की रक्षा के लिए, उनकी तरफ देखकर सिर्फ हंसने की कोशिश की।

उसी समय दूसरी तरफ़ से शुद्ध अधिकारी हंसता हुआ

आया। उसके हाथ में भी गिलास था। अब तक वह भी काफ़ी चढ़ चुका था। उसका गोरा चेहरा लाल हो उठा था।

उसने हल्के परिहास के लहजे में कहा, "उहूं ! मिस्टर सिंह, यह मेरा माल है !"

'माल' यानी मैं ? मिस्टर सिंह का मेरे करीब आना असंगत है।

मिस्टर सिंह भी उसी तरह छिछली सकुचाहट व्यक्त करते हुए उठ खड़े हुए, "ओ ! सो सॉरी ! विश यू वेरी-वेरी गुड-लक, मिस्टर अडिकारी ! यह लड़की सचमुच बहुत चार्मिंग है।"

और वह किसी अन्य माल की तलाश में आगे बढ़ गया।

मुझे अपलक निहारते हुए शुद्ध अधिकारी ने हंसकर कहा, "वह जिस आलम में है, उसमें उस कमबख्त को हर कोई बेहद चार्मिंग दिखायी दे रहा है।"

उस दिन अपनी तबीयत बिगड़ने का बहाना बनाकर मैं महफिल बरख्वास्त होने के पहले ही चली आयी और घर पहुंचकर सीधे नल के नीचे देर तक नहाती रही। लेकिन असली ग्लानि तो मन के बाहर नहीं, मन के भीतर ही थी। जैसे मेरी अन्तरात्मा में किसी असहनीय यंत्रणा का अजस्त्र स्रोत फूट पड़ा हो। उस रात बिस्तर पर लेटी-लेटी जाने कितनी देर तक करवटें बदलती रही। मुझे रात-भर यही लगता रहा कि मुझ जैसी निःसंग, रिक्त और दिवालिया औरत शायद कहीं कोई नहीं है।

उसी तरह बेचैनी से छटपटाते हुए जाने कब मुझे नींद आ गयी। मैंने एक सपना देखा...अचानक बड़ी मां मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी हैं। उस रात की तरह ही उदास-कातर दृष्टि। उन्होंने कहा, 'सुन रे, तूने मुझे वचन दिया था न ? अपने कुल के नाम पर धब्बा लगने लायक कोई काम तू नहीं करेगी ?'

...उसके बाद यह क्या हुआ ? इतनी रोशनी कहां से आने लगी ? अरे, यह तो रोशनी नहीं, आग है। सारा-का-सारा इलाका धांय-धांय करके जल रहा है...और उस आग में एक लड़की निश्चल खड़ी-खड़ी भस्म होती जा रही है। मैंने बड़ी मां की सास को कभी नहीं देखा, लेकिन इस वक्त

मैंने उन्हें पहचान लिया। वे भी इसी तरह जल मरी थीं, इसीलिए इतना भयकर अग्निकाड भी प्रकाश का उत्सव-सा लग रहा था।

...अचानक मैं दुबारा चौंक उठी।...कहीं अंदर तक सिहर गयी। मेरे सामने एक और व्यक्ति आ खडा हुआ। बेहद परिचित चेहरा। सौम्य मूर्ति, लेकिन बेहद खिन्न।

उसने मेरी ओर देखते हुए कहा, 'तुमने मेरे ऐसे फूल जैसे बेटे को ऐसी भयावह आग में ढकेल दिया, बिटिया? यह तुमने क्या किया, बेटी?'

...सारी रात मैं सो नहीं पायी। सारी रात जागते हुए मैं किसी अज्ञात त्रास से कांपती रही। मेरा मन एक अजीब-सी आशका में जलता-फुकता, जैसे राख का ढेर बनता जा रहा था।

अगले दिन!

दोपहर कई बार फोन करने के बावजूद शुद्ध अधिकारी को पकड पाना सभव नही हो पाया। शाम को मैंने दुबारा कोशिश की। उसके बाद भी फोन मिलाती रही। खैर, रात आठ बजे के बाद वह घर पर मिल गया।

मैंने पूछा, "एक बार मिल सकते हो?"

"क्या बात है? कोई खास बात? इस वक्त मैं बुरी तरह थका हुआ हूं।"

"ठीक है। मैं ही आ रही हू।"

मैंने उसे और कुछ कहने या पूछने का मौका ही नही दिया। फोन रखकर मैं दुकान के बाहर निकल आयी।

उसके घर पहुंचते-पहुचते रात के साढे आठ बज गये। वह बिस्तर पर अधलेटा किसी विदेशी पत्रिका के पन्ने पलट रहा था।

मुझे देखकर उसने पत्रिका बद कर दी और सीधे होकर बैठ गया, "अब बताओ, ऐसी क्या बात हो गयी? यज्ञेश्वर कह रहा था, आज दिन-भर में तुमने कई बार फोन किया था।"

मैंने दरवाजा उढका दिया और उसी बिस्तर के एक किनारे आ बैठी।

मैंने सायास हसकर बात शुरू की, "देख लो! इतने-इतने फोन के बाद भी तुम्हें कोई चिन्ता नहीं हुई?"

उसने मेरी ओर टटोलती हुई निगाहों से देखकर कहा, "क्यों ? क्या हुआ ?"

"यूं कुछ भी नहीं। फिर भी वहुत कुछ।"

उसकी निगाहें उसी तरह मेरे चेहरे पर टिकी रहीं।

मैंने उसकी आंखों में झांकते हुए वेहद सधी हुई आवाज़ में कहा, "सुनो, अव तक मैंने जो चाहा या, अव नहीं चाहती।"

वह ज़रा हैरत में पड़ गया, "क्या नहीं चाहतीं ?"

"तुम्हारा यह रुपया-पैसा, घर-मकान—कुछ भी नहीं।"

"तव आखिर चाहती क्या हो ?"

"सिर्फ़ तुम्हें..."

"मैं क्या इन सवसे अलग हूं ?"

"हां, मैं तुम्हें इन सवसे अलग पाना चाहती हूं।"

"मतलव ?"

"मतलव, तुमने मेरी ही खातिर इस आग में छलांग लगायी थी, अव मेरी ही खातिर वहां से वाहर निकल आओ।"

"अपना इरादा ज़रा साफ़-साफ़ वताओगी ?"

"वताती हूं। सुनो, तुम्हें यह धन-दौलत, यह ऐश्वर्य छोड़ना होगा। वाद में हम सोच-समझकर यह सारा कुछ किसी अच्छे काम के लिए दान दे देंगे।"

उसकी आंखों में कौतुक झलक आया। उसके होंठों पर व्यंग्य-भरी हंसी खेल गयी, "अचानक ऐसा नेक खयाल आने की वजह ?"

"मुझे अपनी गलती मालूम हो गयी है, इसलिए..."

इस वार वह झुंझला उठा, "तुम्हारा क्या दिमाग खराव हो गया है ? डॉक्टर वगैरह वुलाऊं ?"

"नहीं, दिमाग इससे पहले ज़रूर खराव हुआ था, अव ठीक हो गया है। इसीलिए तो तुमसे यह वात कह पा रही हूं।"

किसी अप्रत्यक्ष विद्रूप से मानो उसका चेहरा ही वदल गया, "...और अगर मैं यह राह न छोड़ूं ?"

"तो फिर मुझे छोड़ना होगा।"

उसने मेरी ओर टटोलती हुई निगाहों से देखकर कहा, "क्यों ? क्या हुआ ?"

"यूं कुछ भी नहीं। फिर भी बहुत कुछ।"

उसकी निगाहें उसी तरह मेरे चेहरे पर टिकी रहीं।

मैंने उसकी आंखों में झांकते हुए बेहद सधी हुई आवाज में कहा, "सुनो, अब तक मैंने जो चाहा था, अब नहीं चाहती।"

वह जरा हैरत में पड़ गया, "क्या नहीं चाहती ?"

"तुम्हारा यह रुपया-पैसा, घर-मकान—कुछ भी नहीं।"

"तब आखिर चाहती क्या हो ?"

"सिर्फ़ तुम्हें..."

"मैं क्या इन सबसे अलग हूं ?"

"हां, मैं तुम्हें इन सबसे अलग पाना चाहती हूं।"

"मतलब ?"

"मतलब, तुमने मेरी ही खातिर इस आग में छलांग लगायी थी, अब मेरी ही खातिर वहां से बाहर निकल आओ।"

"अपना इरादा जरा साफ़-साफ़ बताओगी ?"

"बताती हूं। सुनो, तुम्हें यह धन-दौलत, यह ऐश्वर्य छोड़ना होगा। बाद में हम सोच-समझकर यह सारा कुछ किसी अच्छे काम के लिए दान दे देंगे।"

उसकी आंखों में कौतुक झलक आया। उसके होंठों पर व्यंग्य-भरी हंसी खेल गयी, "अचानक ऐसा नेक खयाल आने की वजह ?"

"मुझे अपनी गलती मालूम हो गयी है, इसलिए..."

इस बार वह झुंझला उठा, "तुम्हारा क्या दिमाग खराब हो गया है ? डॉक्टर वगैरह बुलाऊं ?"

"नहीं, दिमाग इससे पहले जरूर खराब हुआ था, अब ठीक हो गया है। इसीलिए तो तुमसे यह बात कह पा रही हूं।"

किसी अप्रत्यक्ष विद्रूप से मानो उसका चेहरा ही बदल गया, "...और अगर मैं यह राह न छोड़ूं ?"

"तो फिर मुझे छोड़ना होगा।"

...वह कमरे में चहलकदमी कर रहा था। मैं चुपचाप बैठी हुई उसे अपलक देख रही थी।

अचानक वह मेरी तरफ़ घूमकर खड़ा हो गया, "कल ही शादी की रजिस्ट्री के लिए नोटिस दे दूंगा। तुम तैयार रहना।"

मैं उठकर नपे-तुले कदमों से उसके करीब आ खड़ी हुई। आशा-निराशा का चरम संघर्ष झेलते हुए मैंने उससे सवाल किया, "तो फिर बात पक्की रही? मैं यह समझ लूं न कि तुमने मेरी शर्त मान ली?"

"नहीं! नहीं!! नहीं!!! यह कोई मानने लायक बात नहीं है। तुम तो बिलकुल पागलों जैसी बात कर रही हो, समझी?"

हां, मुझे उसकी बातों का अर्थ समझने में सच ही थोड़ा वक्त लगा था। मैं उसकी तरफ़ एकटक देखती रही...बस, देखती रही...

अगले दिन मैंने दोपहर के वक्त यज्ञेश्वर को फ़ोन किया। मैं जानती थी, इस वक्त उसके अलावा और कोई नहीं होगा। मैंने उसे अपना बोरिया-बिस्तर लेकर फ़ौरन चले आने को कह दिया।

...हां, मैं अपने फ़ैसले से टस-से-मस नहीं हुई थी। यह तो जानी हुई बात थी कि यहां रहकर शुद्ध अधिकारी के हाथ से मुक्ति पाना असंभव था। उससे अपने को मुक्त करते हुए मेरे मन के अंदर भी बहुत-कुछ टूट-फूटकर बिखर गया था। लेकिन जाना तो, ख़ैर, तय हो चुका था। इस बार मैंने जो हाथ फैलाकर मांगा था, उसमें कहीं किसी तरह का समझौता नामुमकिन था। उन पलों में जब-जब मैं कमजोर पड़ने लगी, मैंने मन-ही-मन अपनी बड़ी मां को याद किया है और बचपन में देखे हुए उस सौम्य पुरुष को आवाजें दी हैं, जिन्होंने अपने बेटे का नाम खुद रखा था—शुद्ध अधिकारी! किसी के नाम का इतना गहरा अर्थ, मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया।

मैं बैंक से रुपये निकालने के लिए बाहर गयी थी। जब लौटकर आयी तो यज्ञेश्वर अपना बोरिया-बिस्तर लेकर बाहर बैठा मिला।

मैं नितांत लक्ष्यहीन की तरह करीब तीन महीनों तक यहां-वहां भटकती रही। ना...कहीं मन लगा। उसके बाद इस रूपनारायणपुर में

आयी थी और जाने कैसे मेरे कदम यहीं रुक गये !

हां, यह जगह मुझे अच्छी लगने लगी है। कभी यहां नन्हे-नन्हे बच्चों के लिए दो-दो प्राइमरी स्कूल खोले गये थे, लेकिन कुछ दिनों बाद लगभग बंद हो गये। मैंने अधिकारियों से मिलकर उन स्कूलों को चलाने का इंतज़ाम अपने ज़िम्मे ले लिया। एक एम० ए० पास लड़की खुद किसी प्राइमरी स्कूल का जिम्मा लेना चाहती है, यह सुनकर कुछेक लोग अवाक् हो उठे थे। वहां तनख्वाह भी बिलकुल नाममात्र की थी।

लेकिन पिछले तीन महीनों से मेरा अनंत उत्साह देखकर, अब शायद उन्हें भी थोड़ा-थोड़ा विश्वास होने लगा है कि यह मेरी क्षणिक खामखयाली नहीं थी। यहां घर-घर चक्कर लगाकर, मैंने स्कूल चलाने के लिए काफ़ी सारे बच्चे भी इकट्ठे कर लिये।

इस बीच यज्ञेश्वर दो बार कलकत्ता का चक्कर लगा आया। कलकत्ता जाने की उसने कोई वजह नही बतायी। मैंने भी अपनी तरफ़ से कोई बाधा नही दी। वह बस, इतना जताकर चल देता था कि वह यहां बोर हो रहा है, अतः ज़रा घूमने जा रहा है।

चुनाव की खबरें बहुत पहले ही रेडियो के ज़रिये मेरे कानों तक पहुंच चुकी थीं। लेकिन उन खबरों से मेरी जीवनचर्या में कोई खास रद्दोबदल नहीं हुआ।

दोनों बार यज्ञेश्वर ने लौटकर बताया कि इन दिनों शुद्ध दादाबाबू जाने कैसे तो हो गये हैं। अब अपने काम-धंधे के लिए भी उतनी भाग-दौड़ नहीं करते। बस, अपने कमरे में चुपचाप बैठे-बैठे शराब पीते रहते हैं। पहली बार उसे देखकर उन्होंने उसकी दीदीमणि का केवल हालचाल-भर पूछा था कि वह कहां हैं ? कैसी हैं ? क्या करती हैं ? बस्स ! दूसरी बार तो हालचाल भी नहीं पूछा। सच तो यह है कि उससे कोई बात ही नहीं की।

लेकिन जब से यज्ञेश्वर दुबारा लौटकर आया है, उसके बाद से ही... क्या मेरी उम्मीदें जैसे और बढ़ गयी हैं।

...हां, मैं उसकी और...और...और अधिक प्रतीक्षा नहीं करने लगी हूं ?

यज्ञेश्वर थैला लेकर बाजार के लिए निकला था। थोड़ी देर बाद ही वह खाली थैला लिये, दौड़ता हुआ वापस लौट आया।

"ओ दीदीमणि, चलो ! चलो, देखो तो सही, नदी पार करके कौन आ रहा है ? जल्दी से घाट किनारे चलो न !"

मैं बस उसी वक्त नहाकर निकली थी और बालों में कंघी फेर रही थी। मेरे हाथ वहीं जम गये। यज्ञेश्वर के गले की उमगती हुई आवाज ही बता रही थी कि कौन आ रहा है, कौन आया है। मैं कंघी एक किनारे रखकर धीरे-धीरे उठ खड़ी हुई और मैंने बड़ी मा की तसवीर की ओर निगाहें टिका दी। मुझे लगा तसवीर में बड़ी मा भी हँस रही हैं।

मैं घाट के इस पार आ खड़ी हुई। बाहर से बिलकुल शांत, लेकिन अंदर-ही-अंदर खुशी से कांपती हुई।

नाव मझधार पार कर चुकी है। हां, जैसी मैंने कल्पना की थी, इस वक्त ठीक वैसा ही देख रही हूं। जो देख रही हूं, वह शायद मेरी कल्पना से भी अधिक खूबसूरत है। नौका के मस्तूल से पीठ टिकाये हुए वह कौन खड़ा है ? मैं जानती हू, अगर मेरी आखें बंद हों, तो भी मैं बता सकती हू कि वह मेरा...मेरा ही धन है।

...हवा में उड़ते हुए बाल। इतनी दूर से भी मुझे लग रहा है। उसके होंठों के कोरों पर हल्की-सी मुसकान भी उभर आयी है।

उसके हाथों में वही खत है ! वह खत लिये हुए, इसी ओर देख रहा है। हां, उसने मुझे देख लिया है। वह मंद-मंद मुसकरा भी रहा है। अचानक उसने पलटकर एक बार अपने सामने फैली नदी को देखा है...

...मुझे लगा, वह सोच रहा है...यह नदिया आखिर इत्ती लम्बी कैसे हो गयी ? आखिर यह खत्म क्यों नहीं होती ?

आयी थी और जाने कैसे मेरे कदम यहीं रुक गये !

हां, यह जगह मुझे अच्छी लगने लगी है। कभी यहां नन्हे-नन्हे बच्चों के लिए दो-दो प्राइमरी स्कूल खोले गये थे, लेकिन कुछ दिनों बाद लगभग बंद हो गये। मैंने अधिकारियों से मिलकर उन स्कूलों को चलाने का इंतज़ाम अपने ज़िम्मे ले लिया। एक एम० ए० पास लड़की खुद किसी प्राइमरी स्कूल का जिम्मा लेना चाहती है, यह सुनकर कुछेक लोग अवाक् हो उठे थे। वहां तनख्वाह भी बिलकुल नाममात्र की थी।

लेकिन पिछले तीन महीनों से मेरा अनंत उत्साह देखकर, अब शायद उन्हें भी थोड़ा-थोड़ा विश्वास होने लगा है कि यह मेरी क्षणिक खामखयाली नहीं थी। यहां घर-घर चक्कर लगाकर, मैंने स्कूल चलाने के लिए काफ़ी सारे बच्चे भी इकट्ठे कर लिये।

इस बीच यज्ञेश्वर दो बार कलकत्ता का चक्कर लगा आया। कलकत्ता जाने की उसने कोई वजह नहीं बतायी। मैंने भी अपनी तरफ़ से कोई बाधा नहीं दी। वह बस, इतना जताकर चल देता था कि वह यहां बोर हो रहा है, अतः ज़रा घूमने जा रहा है।

चुनाव की खबरें बहुत पहले ही रेडियो के ज़रिये मेरे कानों तक पहुंच चुकी थीं। लेकिन उन खबरों से मेरी जीवनचर्या में कोई खास रद्दोबदल नही हुआ।

दोनों बार यज्ञेश्वर ने लौटकर बताया कि इन दिनों शुद्ध दादाबाबू जाने कैसे तो हो गये हैं। अब अपने काम-धंधे के लिए भी उतनी भाग-दौड़ नहीं करते। बस, अपने कमरे में चुपचाप बैठे-बैठे शराब पीते रहते हैं। पहली बार उसे देखकर उन्होंने उसकी दीदीमणि का केवल हालचाल-भर पूछा था कि वह कहां हैं ? कैसी हैं ? क्या करती हैं ? बस्स ! दूसरी बार तो हालचाल भी नहीं पूछा। सच तो यह है कि उससे कोई बात ही नहीं की।

लेकिन जब से यज्ञेश्वर दुबारा लौटकर आया है, उसके बाद से ही... क्या मेरी उम्मीदें जैसे और बढ़ गयी हैं।

...हां, मैं उसकी और...और...और अधिक प्रतीक्षा नहीं करने लगी हूं ?

यज्ञेश्वर थैला लेकर बाजार के लिए निकला था। थोड़ी देर बाद ही वह खाली थैला लिये, दौड़ता हुआ वापस लौट आया।

"ओ दीदीमणि, चलो! चलो, देखो तो सही, नदी पार करके कौन आ रहा है? जल्दी से घाट किनारे चलो न!"

मैं बस उसी वक्त नहाकर निकली थी और बालों में कघी फेर रही थी। मेरे हाथ वहीं जम गये। यज्ञेश्वर के गले की उमगती हुई आवाज ही बता रही थी कि कौन आ रहा है, कौन आया है। मैं कघी एक किनारे रखकर धीरे-धीरे उठ खड़ी हुई और मैंने बड़ी मा की तसवीर की ओर निगाहें टिका दीं। मुझे लगा तसवीर में बड़ी मा भी हंस रही है।

मैं घाट के इस पार आ खड़ी हुई। बाहर से बिलकुल शांत, लेकिन अंदर-ही-अंदर खुशी से कांपती हुई।

नाव मझधार पार कर चुकी है। हा, जैसी मैंने कल्पना की थी, इस वक्त ठीक वैसा ही देख रही हू। जो देख रही हू, वह शायद मेरी कल्पना से भी अधिक खूबसूरत है। नौका के मस्तूल से पीठ टिकाये हुए वह कौन खड़ा है? मैं जानती हू, अगर मेरी आखें बंद हों, तो भी मैं बता सकती हू कि वह मेरा...मेरा ही खत है।

...हवा में उड़ते हुए बाल। इतनी दूर से भी मुझे लग रहा है। उसके होंठों के कोरों पर हल्की-सी मुसकान भी उभर आयी है।

उसके हाथों में वही खत है! वह खत लिये हुए, इसी ओर देख रहा है। हां, उसने मुझे देख लिया है। वह मंद-मंद मुसकरा भी रहा है। अचानक उसने पलटकर एक बार अपने सामने फैली नदी को देखा है...

...मुझे लगा, वह सोच रहा है...यह नदिया आखिर इत्ती लम्बी कैसे हो गयी? आखिर यह खत्म क्यों नहीं होती?